



धर्मायण

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : 77 (संयुक्तांक)

कार्तिक-चैत्र, 2065

अक्टूबर-मार्च, २००८-०९ ई०

सम्पादक - मण्डल

प्रो. काशीनाथ मिश्र

महन्त उद्धवदासजी

डा. श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य किशोर कुणाल

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

महावीर मन्दिर प्रकाशन
के लिए

प्रो. काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

प्रकाश ऑफसेट, पटना में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

दूरभाष - 0612-2223789

E-mail: mahavimandir@sify.com

मूल्य : **दस रुपये**

विषय - सूची

सांस्कृतिक समन्वयाचार्य : आदि शंकराचार्य	
डा. एस.एन.पी. सिन्हा	8
आदिकाव्य की प्रकृति का विभावगत वर्णन	
डा. श्याम सुन्दर पाण्डेय	14
महाकवि कालिदास का शिव-प्रेम	
डॉ. सत्या दयाल	19
'वेतालपचीसी' का गूढार्थ-व्यंजक शिल्प	
डॉ. श्यामसुन्दर घोष	25
'पृथ्वीराज-रासो' में देवोपासना एवं भक्ति के बीज	
युगल किशोर प्रसाद	30
श्रीकृष्णक्रान्ति (ललित-निबन्ध)	
गंगापीताम्बर शर्मा 'श्यामहृदय'	35
लोक-जीवन में रसे-बसे राम	
डॉ. श्रीकांत सिंह	40
वेदों में वैज्ञानिक शिल्प	
डॉ. धीरेन्द्र झा	48
विज्ञान एवं भक्ति का संगम	
डॉ. जटाधारी	50
कर्म का अध्यात्म और अध्यात्म का कर्म	
डी. आर. ब्रह्मचारी	59
जीवन का अन्तिम सोपान	
कैलाश त्रिपाठी	63
कुण्डलिनी : पिण्ड से ब्रह्म तक	
प्रो. श्रीकान्त प्रसून	66
मिथिला की वैष्णव धारा	
डा. किशोरनाथ झा	74
रिपोर्ताज :	
दाहा नदी, पाण्डेय परसवनी एवं लक्ष्मण कुण्ड	77

सम्पादकीय

मण्डन मिश्र का व्यक्तित्व

पूर्वजानां सतां लोके स्मरणेनापि सन्मतिः।

तस्मान्मण्डनमिश्राणां व्यक्तित्वं गीयते मया॥

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को 'करामलकवत्' देखनेवाले भारतीय मनीषियों का चिन्तन देश, काल और पात्र से उपर का था इसलिए यह सच है कि उन्होंने अपने काल और स्थान का उल्लेख नहीं किया। फलतः ऐसे मनीषियों का व्यक्तित्व ऐतिहासिक दृष्टि से अन्धकारावच्छन्न रहा है। इसलिए आज भी मण्डन मिश्र और भारती के स्थान निर्धारण के लिए हमें अनेक तर्क-वितर्क का सहारा लेना पड़ रहा है।

कोशी के किनारे बसा हुआ महिषी गाँव निश्चित रूप से प्राचीन है। बौद्धों की महायान परम्परा में विद्या की देवी तारा की स्थापना यहाँ की गयी है। 'आर्य मंजुश्रीमूलकल्प' अथवा 'महायानसूत्र' नामक ग्रन्थ में तारा को बोधिसत्त्व की शक्ति तथा कुमार मंजुश्री की माता के रूप में वर्णित किया गया है। इस महायानी मंजुश्री की चर्चा इत्सिंग (672-698 ई.) ने की है तथा फाहियान के उल्लेख के अनुसार वे पाटलिपुत्र में रहते थे और फाहियान ने उनसे भेंट की थी। इस प्रकार, मंजुश्रीमूलकल्प की परम्परा पाँचवीं शती से आरम्भ हुई है। इसमें तारा को विद्यादायिनी देवी के रूप में भी आराध्या माना गया है। श्रावस्ती से प्राप्त एक शिलालेख में दूसरा श्लोक सरस्वती से अभिन्न तारा की स्तुति में है—

संसाराम्भोधिताराय तारामुत्तरलोचनाम्।

वन्दे गीर्वाणवाणीनां भारतीमधिदेवताम्॥

यह स्थान आजतक असंख्य लोगों की आस्था का केन्द्र है। मिथिला में हरिसिंहदेव के काल में जब पञ्जी निर्माण हो रहा था, उसके पूर्व ही यह गाँव सम्पन्न था। अन्य गाँव सम्पन्न था। अन्य गाँव से लोग आकर यहाँ बस रहे थे। पंजी में मूल ग्राम के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। उस समय बुधबाल महिषी एवं पलिवारमहिषी मूल के लोग यहाँ रहते थे। मिथिला विभूति म० म० गंगानाथ झा, आदित्यनाथ झा, डा. अमरनाथ झा आदि के पूर्वज इसी गाँव से सरिसब पाही गये।

इस गाँव की परम्परा समृद्ध है। यहाँ एक जनश्रुति है कि मण्डन मिश्र इसी गाँव में रहते थे। नका विवाह वर्तमान मधुबनी जिला के भट्टपुरा निवासी कुमारिल भट्ट की बहन शादी भारती से हुआ था। इस मण्डन के साथ शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें भारती मध्यस्थ थीं। मण्डन तो हार गये किन्तु भारती जब उनसे कामशास्त्र पर प्रश्न पूछने लगीं तब वे निरुत्तर होकर एक मास की अवधि लेकर गौड़ देश के राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर गये। उस रूप में कामशास्त्र की शिक्षा लेकर पुनः शास्त्रार्थ करने गये आदि आदि।

जन-परम्परा बतलाती है कि यह शास्त्रार्थ इसी गाँव में हुआ था और मण्डन मिश्र हारकर सुरेश्वराचार्य बनकर दूसरे शंकराचार्य बने। इसके लिए माधवाचार्य के 'शंकर-दिग्विजय' को आधार माना गया है। इस शंकर-दिग्विजय के दो संस्करण मेरे समक्ष उपलब्ध हैं- पहला संस्करण हरिद्वार से प्रकाशित है, जिस पर आचार्य बलदेव उपाध्याय का हिन्दी अनुवाद है। दूसरा संस्करण द्वारकापीठ से प्रकाशित है। इन दोनों संस्करणों में पाठ-भेद नहीं है। किन्तु स्थानीय परम्परा में कुछ ऐसे श्लोक भी कहे जाते हैं, जिनमें धर्ममूला नदी, तारा देवी आदि का भी उल्लेख है। ऐसे श्लोकों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। संस्कृत में दो चार श्लोक गढ़ लेना सामान्य बात है।

इन अनुश्रुतियों से ऊपर उठकर हमें विचार करना है कि वास्तविकता क्या है। मण्डन मिश्र की कृतियाँ आज उपलब्ध हैं। उन्होंने वेदान्त और मीमांसा के ग्रन्थ लिखे थे। इन ग्रन्थों की परम्परा उपलब्ध है। शंकर दर्शन की भी पूरी परम्परा सबके सामने है। शंकरदिग्विजय पर भी पर्याप्त गवेषणा हो चुकी है अतः हमें इन जनश्रुतियों और प्रक्षिप्त श्लोकों के जाल से ऊपर उठकर विचार करना होगा।

हलाँकि 'शंकरदिग्विजय' में कई ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ हैं। इसमें शंकराचार्य के साथ भट्ट भास्कर, उदयनाचार्य, श्रीहर्ष, अभिनवगुप्त आदि के साथ भी शास्त्रार्थ का उल्लेख है। यहाँ तक कहा गया है कि अभिनवगुप्त को जीतने के बाद शंकराचार्य को भगंदर रोग हो गया, तो शिष्यों ने कहा कि यह तान्त्रिक अभिनवगुप्त की करामात है। ऐसी काल-सम्बन्धी भ्रान्तियों से शंकर-दिग्विजय भरा-पड़ा है।

यह होते हुए भी 'शंकर-दिग्विजय' में माधवाचार्य व्यक्तित्व और परम्परा के सन्दर्भ में भ्रान्त नहीं हैं। उनकी दार्शनिक दृष्टि कहीं धूमिल नहीं है। अतः केवल काल तारतम्यता को छोड़ दिया जाए, तो शंकर-दिग्विजय से बहुत तथ्य निकल जाते हैं, जो बहिःसाक्ष्य से भी सिद्ध होते हैं।

सर्वप्रथम हम भारती के सम्बन्ध में देखें तो स्पष्ट होता है कि भारती सुरेश्वराचार्य की पत्नी थी न कि मण्डन मिश्र की।

'शंकर-दिग्विजय' के तृतीय सर्ग में मण्डन और भारती के विवाह का प्रसंग है। सर्ग के आरम्भ में देवताओं के अवतार ग्रहण का वर्णन है। यह वर्णन पुराणों की शैली से प्रभावित है। भविष्य पुराण में भी मध्यकाल के कतिपय संतों को देवताओं का अवतार माना गया है। इस शैली में एक ध्यान हमेशा रखा गया है कि स्वर्गलोक में जो पति-पत्नी के रूप में स्थापित हैं, वे मर्त्यलोक में भी उसी रूप अवतार लेते हैं। इस प्रसंग में मण्डन को बृहस्पति का अवतार माना गया है तथा सुरेश्वराचार्य को ब्रह्मा का अवतार। ब्रह्मा का अवतार सुरेश्वराचार्य को मानते हुए कहा गया है-

विधिरास सुरेश्वरो गिरां निधिरानन्दगिरिव्यजायत।

अरुणः समभूत् सनन्दनो वरुणोऽजायतचित्सुखाह्वयः॥

शंकर दिग्विजय : 3/6

यहाँ आनन्दगिरि को बृहस्पति का अवतार माना गया है किन्तु माधवाचार्य अगले श्लोक में लिखते हैं कि बृहस्पति ने चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन किया था; अतः क्रुद्ध ब्रह्मा के शाप से उन्हें मण्डन मिश्र के रूप में जन्म लेना पड़ा।

चार्वाकदर्शनविधानसरोषधात्-

शापेन गीष्पतिरभूद् भुवि मण्डनाख्यः।

नन्दीश्वरः करुणयेश्वरचोदितः सन्

आनन्दगिर्यभिधया व्यजनीति केचित्।

शंकर दिग्विजय : 3/8

यहाँ अवतारों की जो सूची है, वह इस प्रकार है-

भगवान् शंकर	-	शंकराचार्य
विष्णु	-	पद्मपाद
वायु	-	हस्तामलक
वायु का दशवाँ अंश	-	तोटक
नन्दी	-	उदङ्क
ब्रह्मा	-	सुरेश्वराचार्य
बृहस्पति	-	आनन्दगिरि
अरुण	-	सनन्दन
वरुण	-	चित्सुखाचार्य

ब्रह्मा ने जब सुरेश्वराचार्य के रूप में अवतार लिया, तब सरस्वती ने भी उभयभारती के रूप में जन्म लिया। यहाँ अवतार लेने के कारण का उल्लेख करते हुए बाणभट्ट के हर्षचरित की कथा कह दी गयी है।

अथावतीर्णस्य विधेः पुरन्ध्री साऽभूद्ददाख्योभयभारतीति।

सरस्वती सा खलु वस्तुवृत्त्या लोकोऽपि तां वक्ति सरस्वतीति॥

शंकर दिग्विजय : 3/9

उभयभारती के पिता का नाम विष्णुमित्र था। वे शोण नदी के तट पर रहते थे। दामाद विश्वरूप की आगवानी करते हुए विष्णुमित्र का इस प्रकार वर्णन किया गया है-

शोणस्य तीरमुपयातमुपाशृणोत् स

जामातरं बहुविधं किल विष्णुमित्रः।

प्रत्युज्जगाम मुमुदे प्रियदर्शनेन

प्रावीविशद् गृहममुं बहुवाद्यघोषैः॥

शंकर दिग्विजय : 3/49

सुरेश्वराचार्य विश्वरूप के नाम से किसी राजघराने में रहते थे। उन्होंने जब उभयभारती के विषय में सुना और उभयभारती ने विश्वरूप के विषय में सुना, तो परस्पर पूर्वानुराग हुआ। दोनों ओर से अभिभावकों ने विवाह की अनुमति के लिए ब्राह्मणों को भेजा। जब वरपक्ष के ब्राह्मण कन्यापक्ष के पास पहुँचे, तो उभयभारती के पिता विष्णुमित्र ने इस विषय में अपनी पत्नी से पूछा। पत्नी ने कहा कि वर दूर देश में रहता है; उसकी विद्वत्ता, आयु, कुल और चरित्र के विषय में कुछ जानती नहीं, तब कैसे विवाह की अनुमति दूँगी। इसपर विष्णुमित्र ने दूर देश में अपनी बेटी ब्याहने के कई

उदाहरण दिए और फिर कहा कि वह वर बौद्धों के दुर्जय सिद्धान्त को खण्डित कर वैदिक मार्ग प्रतिष्ठापित करनेवाले भट्टपाद कुमारिल का शिष्य है-

किं केन संगतमिदं सति मा विचारी-
यो वैदिकीं सरणिमप्रहतां प्रयत्नात्।
प्रातिष्ठिपत् सुगतदुर्जयनिर्जयेन
शिष्यं यमेनमशिषत् स च भट्टपादः॥

शंकर दिग्विजय : 3/36

इस प्रकार उभयभारती के पिता को कुमारिलभट्ट का परिचय देना पड़ रहा है, तब वह उभयभारती कुमारिल की बहन कैसे हो सकती है।

इस कथा से एक और बात निकलती है कि ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती का विवाह तो ब्रह्मस्वरूप सुरेश्वराचार्य से ही होगा। अतः सुरेश्वराचार्य का ही एक नाम विश्वरूप था; वे मण्डन मिश्र के नाम से भी प्रसिद्ध थे। याज्ञवल्क्य स्मृति के एक टीकाकार के रूप में विश्वरूप का उल्लेख विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा टीका के मंगलाचरण में की है-

याज्ञवल्क्यमुनिभाषितं मुहुर्विश्वरूपविकटोक्तिविस्तृतम्
धर्मशास्त्रमृजुभिर्मिताक्षरैर्बालबोधविषये विविच्यते।

इस धर्मशास्त्री विश्वरूप ने कुमारिल भट्ट के मीमांसा-श्लोकवार्तिक ग्रन्थ से पर्याप्त उद्धरण लिया है। पी०बी० काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास के आरम्भ में ही विश्वरूप के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है :-

“यों तो विश्वरूप पूर्वमीमांसा के समर्थक से लगते हैं, किन्तु उनके दार्शनिक मत शंकराचार्य के मत से बहुत मिलते हैं। उनके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा होती है और यह संसार अविद्या के कारण है।”

धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग-1, पृष्ठ-67, चतुर्थ संस्करण

इस प्रकार विश्वरूप ब्रह्मसिद्धिकार मैथिल मण्डन से भिन्न थे।

अद्वैत दर्शन की परम्परा में मैथिल मण्डन मिश्र की परम्परा कतिपय प्रसङ्गों में अलग है। अद्वैतवादी दार्शनिक होते हुए भी उनके पृथक् प्रस्थान को संक्षेपशारीरकभाष्य में सर्वज्ञात्म मुनि ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है -

जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् सत्सम्प्रदायप्रभु-
जीवाज्ञानवचस्तदीदृगुचितं पूर्वापरालोचनात्॥
अन्यत्रापि तथा बहुश्रुतवचः पूर्वापरालोचना-
नेतव्यं परिहृत्य मण्डनवचस्तद्व्यन्यथा प्रस्थितम्॥

संक्षेपशारीरक :- 2/174

यदि 'शंकरदिग्विजय' के अन्तःसाक्ष्य को ही प्रमाण मानें तो सरस्वती के अवतार उभयभारती का विवाह ब्रह्मा के अवतार सुरेश्वराचार्य से हुआ था, जिनका नाम संन्यास ग्रहण से पूर्व विश्वरूप

भी था। और मण्डन मिश्र इनसे भिन्न बृहस्पति के अवतार थे, जो मैथिल थे। साथ ही शंकराचार्य के साथ विश्वरूप का शास्त्रार्थ हुआ था न कि मैथिल मण्डन से।

संक्षेपशारीरक में सर्वज्ञात्म मुनि ने मण्डन मिश्र के प्रस्थान को पृथक् माना है। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मानते हैं कि संन्यास ग्रहण से पूर्व जो मण्डन थे, वे ही संन्यास ग्रहण के बाद सुरेश्वराचार्य बने और अपना पृथक् मत परिवर्तित कर लिया, तथापि सुरेश्वराचार्य के साक्षात् शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि उनका नाम ग्रहण इस रूप में कदापि नहीं करते।

शंकरदिग्विजय में माधवाचार्य ने विश्वरूप और सुरेश्वराचार्य को अभिन्न माना है। यह अभेद अन्य बहिरंग प्रमाणों से भी सिद्ध है। किन्तु मण्डन मिश्र के साथ भी यदि माधवाचार्य के अनुसार विश्वरूप का तादात्म्य माना जाए तो यही सिद्ध होगा कि मण्डन मिश्र भी उन्हीं का नाम था और वे नर्मदा तट पर थे। किन्तु इस निष्कर्ष को मानने पर हमें यह मानना होगा कि सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक भाष्य में जिस 'मण्डनवचः परिहृत्य' कहकर विशेष प्रस्थान की चर्चा की है, वहाँ भी मण्डन, विश्वरूप और सुरेश्वराचार्य एक ही हैं। अर्थात् सर्वज्ञात्म मुनि ने सुरेश्वराचार्य के पूर्व नामधारी मण्डन के उस सिद्धान्त को पृथक् बतलाया है जो 'ब्रह्मसिद्धि' के सिद्धान्त के अनुकूल है। इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी रामतीर्थ लिखते हैं कि- किन्तु मण्डनवचः परिहृत्य त्वक्त्वा, हि यस्मात् तत् अन्यथा प्रस्थितम्। प्रस्थानान्तरं यत्, जीवस्यैव अज्ञानमिति मण्डनस्य मतं यत् तथैव तदस्तु नास्माकं तदुपरोध्यमित्यर्थः''

रामतीर्थ द्वारा प्रस्तुत यह उद्धरण मण्डनमिश्र के ब्रह्मसिद्धि में उपलब्ध है। मण्डन यह मानते हैं कि अविद्या का आधार जीव है,

यत्तु कस्याविद्येति जीवानामिति ब्रूमः। (ब्रह्मकाण्ड)

जबकि शंकराचार्य का मत है कि अविद्या का आधार भी ब्रह्म है। इस मतान्तर का उल्लेख रामतीर्थ ने किया है; अतः रामतीर्थ ने यहाँ ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन का ही उल्लेख किया है।

सर्वज्ञात्म मुनि सुरेश्वराचार्य के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। संक्षेपशारीरक के टीकाकार रामतीर्थ स्वामी ने इस ग्रन्थ के मंगलाचरण के निम्नलिखित श्लोक के द्वारा गुरु सुरेश्वराचार्य की वंदना सिद्ध की है-

इदानीं साक्षात् स्वगुरुं सुरेश्वराचार्यमभिपूजयति-

यदीयसंपर्कमवाप्य केवलं

वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः ॥

जगत्सु ते तारितशिष्यपङ्क्तयो

जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः॥

यदीयसम्पर्कमिति॥ ते देवेश्वरपादरेणवो जगत्सु संसारमण्डले जयन्तीति योजना।

(1/8)

तब यह मानना होगा कि उन्होंने अपने गुरु सुरेश्वराचार्य के संन्यास ग्रहण के पूर्व नाम का उल्लेख परिहृत्य मण्डनवचस्तद्ग्रन्थथा प्रस्थितम् में किया है। किन्तु यह सम्भव नहीं। ऐसा एक भी उदाहरण आजतक हमें नहीं मिला है, जिसमें किसी शिष्य ने अपने गुरु का नाम लिया हो, वह

भी बिना किसी आदरसूचक शब्द के प्रयोग का। इस संक्षेपशारीरक के टीकाकार रामतीर्थस्वामी ने उसी श्लोक की व्याख्या में कहा है कि 'बहुश्रुतैः' शब्द से सुरेश्वराचार्य का संकेत किया गया है।

“बहुश्रुताः सुरेश्वराचार्यप्रभृतयः।”

ऐसी स्थिति में हमें यह मानना होगा कि माधवाचार्य ने विश्वरूप और मण्डन को जो एक माना है वह या तो असंगत है या विश्वरूप मण्डन से भिन्न कोई मण्डन अवश्य हैं, जिन्हें सर्वज्ञात्म मुनि ने अनादर भाव से ही सही, प्रस्थानान्तर के प्रतिष्ठाता के रूप में उल्लिखित किया है।

वाचस्पति निर्विवाद मैथिल हैं। उन्होंने जिस मण्डन के सिद्धान्त का अनुसरण कर शांकर मत का खण्डन किया है वे मण्डन भी मैथिल होंगे।

अतः सिद्धान्त रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि-

1. ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मैथिल थे।
2. विश्वरूप, सुरेश्वराचार्य नर्मदा तट के थे।
3. मिथिला में कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ।
4. यह शास्त्रार्थ रेवा अर्थात् नर्मदा तट पर हुआ।
5. भारती मैथिल मण्डन की पत्नी नहीं थी।

रेवा अर्थात्, नर्मदा नदी के तट पर शास्त्रार्थ होने के कई संकेत मिलते हैं। शंकरदिग्विजय के आठवें सर्ग के प्रारम्भ में ही इस स्थान का वणन करते हुए कहा गया है-

प्रफुल्लराजीवने विहारी तरङ्गरिङ्गत्कणशीकरार्द्रः।

रेवामरुत्कम्पितसालमालः श्रमापहृद्भाठयकृतं सिषेवे॥ 8/3

यह श्लोक दोनों उपलब्ध संस्करणों में एक समान है। अब कोई रेवा के स्थान में 'कोशी' शब्द डाल दें तो उनका क्या कहना?

मैथिल मण्डन वेदान्ती होने के साथ-साथ मीमांसक थे और ज्ञानपूर्वक कर्म सिद्धान्त के पक्षधर थे। वे षड्दर्शन के भाष्यकार दुर्धर्ष दार्शनिक वृद्धवाचस्पति के आदर्श दार्शनिक थे। वे कभी पराजित नहीं हुए, बल्कि शांकर दर्शन की परम्परा में अपनी पृथक् स्थापना के कारण डटे रहे।

मैथिल मण्डन का जन्मस्थान कहाँ था, इसके सम्बन्ध में ठोस प्रमाण तो हमारे पास उपलब्ध नहीं है, किन्तु इस महिषी गाँव की जन-परम्परा जब यह मानती है कि ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन का स्थान यहीं था, तो इसे अस्वीकार करने के लिए अभी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। महिषी का प्राचीन नाम माहिष्मती मानकर फिर शंकरदिग्विजय के आलोक में इसे मण्डन मिश्र का जन्मस्थान सिद्ध करना भयंकर भूल है, इससे हमें उबरना होगा; क्योंकि शंकरदिग्विजय स्वयं ऐतिहासिक भ्रान्ति फैलानेवाला काव्य है। महिषी शुद्ध संस्कृत का शब्द है और पंजी के निर्माण के काल में भी यही नाम रहा है। सरहपा के जन्मस्थान के रूप में यदि राजी गाँव उस प्रदेश में हो सकता है, तो उसी अर्थ में महिषी भी हो सकता है। यहाँ की स्थानीय परम्परा को पुष्ट आधार देने के लिए किसी काल में 'शंकरदिग्विजय' में स्थानीय परिवर्तन किया गया होगा, यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है। उग्रतारा स्थान, कन्दाहा का सूर्य मन्दिर, सिंहेश्वर स्थान आदि जो प्राचीन देवस्थान इस क्षेत्र के आसपास हैं, इससे प्राचीन काल में क्षेत्र उन्नत था, यह सिद्ध होता है। इस क्षेत्र में मैथिल मण्डन रहे होंगे और उन्होंने अद्वैत वेदान्त और मीमांसा में अपनी धारा स्थापित की होगी।

- भवनाथ झा



सांस्कृतिक समन्वयाचार्य : आदि शंकराचार्य

◆डा० एस.एन.पी. सिन्हा

आदि शंकराचार्य (सम्भवतः 788-820 ई. भारतीय इतिहास की विस्मयकारी विभूतियों में थे- भीतर और बाहर दमकते हुए, ऊर्जावान् और कर्तृत्व-शक्ति के पुंज। उन्होंने ब्रह्मसूत्र, प्रमुख उपनिषदों और भगवद्गीता पर प्रखर तार्किकता से भरे भाष्य संस्कृत गद्य में लिखे। बौद्ध विद्वानों का मानना है कि उन्होंने हिमालय सहित समूचे भारत के बौद्ध विद्वानों और अन्य सम्प्रदायों के पण्डितों से शास्त्रार्थ किया और अद्वैत का डंका बजाया। उन्होंने देश के चार कोनों में चार मठ स्थापित कर धर्म-प्रचार की पुख्ता नींव डाली और इस काम के लिए

संन्यासियों की 'दशनामी' परम्परा चलायी।

शंकराचार्य का आविर्भाव ऐसे संक्राति-काल में हुआ, जब पराधीनता का पाश तो था ही, हिन्दु धर्म की मूल पहचान भी लुप्त हो गयी थी। नैतिक मूल्य बिसरा दिये गये थे। विघटनकारी तत्त्वों का बोलबाला था। विचारधाराओं और

मत-मतान्तरों का इतना घालमेल था कि बड़े-बड़े विवेकी भी सही गलत की पहचान नहीं कर सके। धर्म और सिद्धान्तों का आधार सेवा नहीं द्वेष और बाह्याडम्बर हो गया था। नास्तिकता और भौतिकवाद चरम

पर था और सामाजिक मान्यताएँ छिन्न-भिन्न हो चली थीं। वैदिक धर्म का नाश सन्निकट दीखता था। यह बौद्धों, जैनों व कापालिकों के उत्थान का चरम काल था। जाहिर था, उन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त होता, आखिर अधिकांश राजा उनके ही मत में दीक्षित थे।

जनमानस में उनकी छवि यह है कि उन्होंने भारतभूमि से बौद्ध धर्म का उन्मूलन

किया, पर शायद यह अधिक सही होगा कि उन्होंने बौद्धधर्म के मुख्य वैचारिक तत्त्वों को अद्वैत-चिन्तन में आत्मसात् कर लिया। वास्तव में उन्होंने वैदिक धर्म को व्यावहारिक स्तर पर इतना व्यापक और सर्वग्राही बना दिया कि शिथिल हो चुका बौद्ध धर्म उसमें रच-पच गया।

आदि शंकराचार्य का अविर्भाव ऐसे काल में हुआ था, जब भारत में बौद्ध धर्म के नाम पर 'महायान' की तान्त्रिक साधना समाज में प्रभावी थी। बुद्ध के उदात्त उपदेश गौण हो चुके थे। इधर, आगम-परम्परा के अनेक सम्प्रदाय अपनी डफली पर अपना राग अलाप रहे थे। **तत्त्वमसि, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म** जैसे औपनिषत्क उपदेश भूले जा रहे थे। विशाल गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था। सम्पूर्ण भारतवर्ष राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से खण्ड-खण्ड हो चुका था। ऐसे समय में शंकराचार्य ने जो कुछ भी किया, उससे सांस्कृतिक स्तर पर समन्वय की स्थापना हुई। इसी सन्दर्भ में आदि शंकराचार्य के अवदान पर आलेख यहाँ प्रस्तुत है। -सं०

आगा ख़ाँ के महल में बन्द बापू उन दिनों हिन्दुधर्म के गहन अध्ययन और मनन में लगे थे। उनकी सेवा-टहल के लिए रखी गयी डा० सुशीला नैयर ने एक दिन उनसे पूछा- क्या आप मानते हैं शंकराचार्य ने भारत से बौद्ध धर्म का उच्चाटन किया और यह काम अच्छा नहीं हुआ?" गाँधीजी ने जो कहा, वह आज भी एक आदर्श उत्तर है, उनके लिए जो जगद्गुरु को संकीर्ण, परधर्मद्वेषी और जाने क्या-क्या बताकर उनकी महत्ता चौखटबंद करने के मूर्ख प्रयासों में समय नष्ट कर रहे हैं। गाँधीजी ने कहा था- "सुशीला तेरी बात बिल्कुल उलटी है। आचार्यजी ने बौद्ध धर्म को फेंका कहाँ? उन्होंने तो उसका सार-भाग भर लिया। उन्हीं की बदौलत आज बौद्धधर्म जितना भारत में है उतना न चीन में है, न जापान, वर्मा न श्रीलंका में। गौतम बुद्ध का यदि आज पुनर्जन्म हो, तो वे खुद कहेंगे कि बौद्धधर्म का सत्त्व तो भारत में ही है, शेष तो सब भूसा है।"

राष्ट्रीय एकात्मता के आज बहुत ढोल पीटे जा रहे हैं, पर आदि शंकराचार्य से बड़ा एकात्मता का रक्षक कौन था? उनके द्वारा देश की चार दिशाओं में स्थापित बदरीनाथ, शृंगेरी, जगन्नाथपुरी व द्वारिकापुरी के उन मठों के बारे में तनिक सोचिए। इन चार मठों में किसी का भी पीठाधिपति उन क्षेत्रों का नहीं था, जहाँ ये मठ अवस्थित हैं। संकीर्णता तो उनके चिन्तन में थी ही नहीं। उन्होंने जो परम्परा कायम की वह आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। उत्तर के केदार और बद्रीनाथ धामों, नेपाल में भी, मन्दिरों में पूजा दक्षिण के ब्राह्मणों के द्वारा ही की जाती है। उसी तरह जिस तरह रामेश्वरम् में यह जिम्मेदारी उत्तर भारतीय पुरोहितों ने सम्भाली हुई है। चारों कोनों के ये पीठ चारों वेदों के प्रतीक स्वरूप भी है। देश का भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता में इन पीठों

के योगदान की चर्चा करने बैठें, तो शायद सैकड़ों ग्रन्थ भी तुच्छ दिखेंगे। शंकराचार्य ने भगवान् बुद्ध के लिए कहीं भी अपशब्द प्रयोग नहीं किया, बल्कि उन्हें 'योगियों के सम्राट्' कहा-

धराबद्धपद्मासनस्थाङ्घ्रियष्टि-

नियम्यानिलं न्यस्तनासाम्रदृष्टिः।

य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती

स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्तु मच्चित्तवर्ती।।६।।

अर्थात्, जिनकी दोनों पिंडलियाँ भूमि पर पद्मासन के द्वारा आपस में गुथी हुई हैं तथा जिन्होंने प्राणवायु को संयमित कर अपनी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर टिका ली है, जो कलियुग में योगियों के चक्रवर्ती सम्राट् हैं; वे बुद्ध हमारे चित्त में रहते हुए जागृत रहें।

इसका परिणाम यह हुआ कि लोग शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बुद्ध' (छिपा बुद्ध) कहने लगे। लोग कहते कि ये शंकराचार्य तो हैं, मगर बुद्ध भगवान के ही दूसरे अवतार हैं। इन दोनों के बीच बहुत कम फर्क था। यह फर्क ब्रह्मविद्या के विषय में था। बुद्ध भगवान् इस विषय में चुप रहे थे। वे इसकी चर्चा में पड़ते नहीं थे। शिष्य इस विषय में कभी पूछते तो कहते थे- 'गरीबों की सेवा करो। इसी में शान्ति है, यही सच्चा काम है। आत्मा की चर्चा में मत पड़ो।' परन्तु उनके पीछे उनके शिष्य वाद-विवाद में उतर पड़े।

भगवान बुद्ध का मुख्य सन्देश अहिंसा का था। यहाँ अहिंसा जितनी फली-फूली, उतनी दूसरे देशों में फूल-फली कि नहीं, यह तो मैं जानता नहीं, परन्तु बौद्धधर्म की दया और करुणा तथा हिन्दु धर्म की आत्मविद्या ये दोनों मिलकर आज का हिन्दु धर्म बना है। हिन्दु धर्म में दो बातें मुख्य हैं- एक तो ब्रह्मविद्या, जिसे वेदान्त कहते हैं। दूसरी भूतदया। इन दोनों में से एक जिसमें न

हो, वह हिन्दु धर्म नहीं। शंकराचार्य ने छह पदों का प्रार्थना का 'विष्णुषट्पदीस्तोत्र' रचा है, जिसका प्रथम श्लोक है:-

अविनयमपनय विष्णो

दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।

भूतदयां विस्तारय

तारय

संसारसागरतः॥

अर्थात् हे भगवान्! मेरा अविनय दूर करें, चंचल मन का दमन करें, सांसारिक विषय रूपी मृगतृष्णा को शान्त करें, प्राणियों के प्रति मेरी दया को बढ़ावें।

भगवान् बुद्ध ने भी यही कहा है। भूतदया और ब्रह्मविद्या इन दो शब्दों में बौद्ध धर्म और हिन्दु धर्म का सार समा जाता है। इसी चीज को लेकर रामकृष्ण और विवेकानन्द आगे बढ़े।

बत्तीस वर्ष के अल्प जीवनकाल में इतना सब विलक्षण विस्मयकारी चिरस्थायी काम करना, वह भी उस जमाने में जब यातायात और संवाद-प्रेषण के साधन नहीं थे, चमत्कार सा प्रतीत होता है। आदि शंकराचार्य को केवल धर्म संस्थापक के रूप में देखना सही नहीं होगा, पर यह शुद्ध रूप से आध्यात्मिक क्रान्ति थी।

उन्होंने वैदिक चिन्तन में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का उद्घोष किया और विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य और दुर्गा इन पाँच देवताओं की नित्य पूजा की परिपाटी बनाकर भारतीय समाज में भावात्मक एकता स्थापित की इस तरह वे सच्चे अर्थों में 'समन्वयाचार्य' थे।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद, के अनुसार सर्वत्र एक ही चेतना सब में व्याप्त है। "मैं वही, तो भेदभाव क्यों- अविश्वास क्यों? श्रद्धा क्यों? नहीं, सब ब्रह्म है, यानी परम आत्मा है। ब्रह्म एक परम चेतना है, जो सत्य, ज्ञानमय एवं अनन्त है। विद्वान् रूप है- आनन्द स्वरूप है। अहम्-ब्रह्मास्मि

की यह अनुभूति होती है। 'मैं' अनन्त रूप हो जाता है।

सनातन धर्म के पुनर्जागरण के अतिरिक्त शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त का दर्शन दिया। इसका अलौकिक उपदेश है- "सभी सत्ता में एकत्व का"- अहम् ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, तत् त्वमसि, प्रज्ञानम् ब्रह्म। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है- शरीर नश्वर है। आत्मा-अजर अविनाशी, सार्वभौमिक, सर्वोपरि, ब्रह्म है- विशुद्ध चेतना है। मूलतः मनुष्य का सत्त्व, सर्वोपरि सत्ता के तदनुरूप, समान, या वही है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। द्वैत, द्वैत-भावना जैसा कुछ नहीं है। सांसारिक, ऐहिक क्रिया-कलाप, अज्ञानता, अविद्या के कारण है। एक व्यावहारिक वेदान्ती, जो अद्वैत- भावना अपनाता है, उत्प्रेरित रहता है। वह दूर स्थान पर सभी प्राणियों में स्व का अवलोकन करता है। व्यक्ति-व्यक्ति में भेद नहीं करता है। कोई भिन्नता नहीं, ऐसा व्यक्ति 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय' सोचता है। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना में- उदार भावना, भूमा-दृष्टि और वैश्विक-भावना में जीता है। एक ही परमात्मा की सब में व्याप्ति हो रही है, तब भेद-भाव, घृणा क्यों? सबमें करुणा का सागर लहराता है। अतः हृदय की तुच्छता उदारता में परिणित होती है। यो वै भूमा तत्सुखम्- जहाँ उदारता है वहीं सुख एवं आनन्द है। इस युग की सबसे बड़ी समस्या है कि हम स्वयं से ही प्रेम नहीं करते। स्वयं से प्रेम करें, तो क्या क्रोध-घृणा को मन में स्थान देंगे? वेदान्त का अद्वैतवाद स्वयं से, आत्मा से प्रेम करना सिखाता है। जो सच्चे अर्थ में जो स्वयं से प्रेम करता है, वह दूसरों से नफरत कर ही नहीं सकता। स्वयं भी ईश्वर अंश है- वह दूसरों को भी उसी अंश मानने की भावना में जीता है।

अतः जगद्गुरु शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त दर्शन को प्रतिपादित कर विश्व को, मानव जाति को शान्ति, सुख का महामन्त्र दिया, जिसे अपनाकर ही मनुष्य सुख-शान्ति-समृद्धि, सह-अस्तित्व की भावना के साथ जीवन-यापन कर सकता है। विश्व-शान्ति के लिए सिर्फ अद्वैत ही समाधान है। अद्वैत दर्शन, सनातन धर्म के किसी वर्ग समुदाय विशेष तक सीमित नहीं है, यह सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक, सनातन है। यह परम स्वतन्त्रता का वास्तविक मानवीकरण है। शंकर का अद्वैत मनोरम कल्पना नहीं है, अपितु समग्र विश्व के लिए उपयोगी व्यावहारिक धर्म है। 'हम सब एक हैं' यह केवल सिद्धान्तरूप में कहने से कुछ नहीं होगा, परन्तु हम सब 'एक' हैं- अनेकता में एकता की अनुमिति करने और लोक व्यवहार में अपनाने एवं सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय की भावना में जीने से मनुष्य में स्व-शान्ति होगी और उसी से विश्वशान्ति का जन्म होगा।

आध्यात्मिक साम्यवाद से ही विश्व में सच्चे अर्थ में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं इसका महत्त्वपूर्ण मूल निर्देश दिया है-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

गीता- ५/१९

परस्परता, सह-अस्तित्व, साम्य-भाव एवं समन्वय में ही जीव का अस्तित्व सम्भव है-

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

गीता- 23/28

परमेश्वर को सर्वत्र तुल्यरूप से अवस्थित देखकर ज्ञानी आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता, इसलिए वह परम गति को प्राप्त होता है।

अद्वैत के अनुसार सच्चिदानन्द की अवस्था को प्राप्त करना ही जीवन का अभीष्ट है।

विश्व आज परमाणु युग में है। परमाणु युग में निराशा के विकट माहौल में एक वैकल्पिक जीवन-दर्शन की जरूरत हो उठी है- निस्संदेह अपने सार्वभौमिक मूल्यों के कारण वेदान्त ही ऐसा अखण्ड और सार्वभौमिक दर्शन हो सकता है। पहला और मूलभूत सिद्धान्त है- सर्वव्यापी ब्रह्म का- 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्'- जो भी है, जहाँ भी है- अस्तित्व में चर, अचर, गतिमान्, स्थावर- एक ही दिव्यशक्ति से संचालित है। दूसरा सिद्धान्त है, ब्रह्म प्रत्येक व्यक्ति के आत्मा में विद्यमान है, आत्मा मानव चेतना में सर्वव्याप्त ब्रह्म का अंश है। हर मानव के अन्तःस्तल में ईश्वर का सिद्धान्त- ईश्वरः सर्वभूतानां द्रष्टा तिष्ठति- उपनिषद् की दूसरी अन्तर्दृष्टि है।

अब हम वेदान्त के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर आ पहुँचे हैं कि सभी मनुष्य एक ही आध्यात्मिक सत्ता के अंश होने कारण एक ही विशाल परिवार के सदस्य हैं- 'अमृतस्य पुत्राः' 'वसुधैव कुटुम्बकम्'।

चौथा दार्शनिक विवाद है- अन्ततः सभी धर्म एक है- सभी आध्यात्मिक पथ एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है- एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' यानी सत्य एक है, विद्वान् लोग उसे अलग अलग नामों से पुकारते हैं।

पाचवाँ सिद्धान्त- अपने कल्याण के लिए बहुजनहिताय बहुजनसुखाय का जीवन सतत सत्कर्म द्वारा जीयें। हमें विश्व-कल्याण के लिए कर्मरत रहना होगा; क्योंकि एक ही चेतना सर्वत्र है अपनी चेतना के विकास के लिए स्वार्थ, हिंसा और वैमनस्य त्यागकर जीवों के प्रति सहानुभूति प्रेम, करुणा और सेवा में रत रहना होगा या

मनुष्य की चेतना के विकास में सम्पूर्ण प्रकृति सम्पूर्ण जगत् है- परस्परता है। परस्परता में ही अस्तित्व और विकास है। प्रकृति से अलग मनुष्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

वेदान्त के पाँच सिद्धान्त हैं- (1) ब्रह्म सर्वव्याप्त है, (2) सब जीवों में आत्मा है, (3) मानव जाति एक परिवार है- (4) मार्ग अलग-अलग होने पर भी धर्मों का गन्तव्य एक ही है, (5) हमें स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि समाज, सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिए कर्म करना चाहिए। ये पाँचो सिद्धान्त सम्मिलित रूप एक ऐसा विश्वव्यापी दृष्टिकोण है, जो मानव जाति को वैश्वीकरण की प्रक्रिया में सहायता कर सकता है। इस परमाणु युग में अगर मनुष्य, मानवता, सम्यता, संस्कृति को जीवित रहना है, तो इसी दृष्टिकोण को अपनाकर अस्तित्व बच सकता है- और विश्व-शान्ति के प्रयास भी सफल होंगे, वेदान्त ही यह वैकल्पिक विचारधारा है, जिसे अपनाकर विनाश की विक्षिप्त भगदड़ से लौट सकते हैं और सत्यपथ की ओर अग्रसर हो सकते हैं। असतो मा सद्गमय की प्रार्थना तभी साकार होगी।

आदि शंकराचार्य ने हिन्दु धर्म के आडम्बरो पर से पर्दा हटाकर उसकी शुद्ध आत्मा का दर्शन कराया। विचार-सलिला का रुका प्रवाह खोला, उदारता के साथ ज्ञान और भक्ति को समन्वित किया।

दार्शनिक, कवि कलाकार, आराधक, योगी किसी रूप में अद्भुत नहीं है आदि शंकराचार्य? रामकृष्ण मिशन इंस्टीच्यूट ऑफ कल्चर के भूतपूर्व अध्यक्ष पी० बी० मुखर्जी के अनुसार तो उनके जैसा बौद्धिक प्रतिभावान् व्यक्ति आजतक हुआ ही नहीं। वे सन्त और योगी के रूप में विश्व के

महानतम में एक, उपदेशक के रूप में सबसे विलक्षण, धर्म-प्रचारक के रूप में अद्वितीय और टीकाकार के रूप में सबसे प्रामाणिक थे। मुखर्जी महाशय संगठन सुधार व कर्मठता के पैमाने पर भी किसी अन्य को शंकराचार्य पर अधिमान नहीं देते और अध्यात्म, धर्म व दार्शनिक आदर्शों के मामले में भारत का जो भी सर्वश्रेष्ठ है, उसका प्रतीक मानते हैं। 'शंकराचार्य का सही आकलन करने में समर्थ लेखनी अभी नहीं बनी', उन्होंने लिखा है- "क्योंकि उनका आकलन करने के लिए कोई भी पैमाना छोटा है। शंकर रूढ़िनिष्ठ भी थे और विपथगामी भी। पुराणपन्थी भी थे और परिवर्तनगामी भी। रचनात्मक भी और संहारक भी। विश्लेषणवादी भी और संश्लेषणवादी भी। रहस्यात्मक भी और तर्कवादी भी। आदर्शवादी भी और यथार्थवादी भी। कुल मिलाकर ऐसा विराट् आयामी व्यक्तित्व, सम्पूर्ण भी जिसके सामने हेठा पड़े।

मुखर्जी महाशय आगे लिखते हैं-

"--- आदि शंकराचार्य वैदिक ज्ञान व संस्कृति के उद्धारकर्ता, आस्तिकता के अनन्य प्रचारक, ब्रह्मवाद के मूर्धन्य व्याख्याता तथा वेदान्तदर्शन के अधिकारी भाष्यकार थे। उनका अद्वैत सिद्धान्त भारतीय जन-जीवन का प्राणाधार है। वे आगम व तन्त्र के वैसे विरोधी नहीं थे, हाँ, आराधना पद्धति में ऐसा आत्मानुशासन लाने का उन्होंने जी-तोड़ प्रयास जरूर किया, जो ईश्वर प्राप्ति में सहायक बने। उनका स्पष्ट निर्देश है कि जाति से मनुष्य को मत तोलो। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् व गीता आदि पर उनके भाष्यों, अन्यान्य ग्रन्थों तथा 'प्रस्थानत्रयी- में उनका ज्ञान हिमालय से होड़ लेता है। उनके भक्ति-सूत्रों के रस-प्रवाह में एक बार डूबे तो फिर उतराना मुश्किल है।

बेशक, ये संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है। भाषा, भाव व लालित्य में अनुपम। वेदान्त की गहराई और इतने सरस ढंग से, कल्पनातीत है।”

यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि हिन्दु धर्म को किसी ने मजबूत बनाया, तो वे थे शंकराचार्य। भगवान बुद्ध ने जो काम किया था, उसे उन्होंने आगे बढ़ाया। बुद्ध के जमाने में यज्ञभाग और कर्मकाण्ड खूब चलते थे। लोक जीवहिंसा करके उसका नैवद्य भगवान् को चढ़ाते थे। लोगों ने निष्ठुरता को भी धर्म बना डाला था। भगवान बुद्ध ने इन्हीं पर प्रहार किया। शंकराचार्य ने भी सीधे कर्मकाण्ड पर प्रहार किया। इसी शरीर और जीवन में हृदय की शुद्धि और आत्मा की अनुभूति हो सकती है, इस बात पर उन्होंने जोर दिया। इन्हीं में सच्ची शुद्धि है और यही धर्म का सार है। शंकराचार्य ने हमें कर्मकाण्ड से छुड़बाया, तो भी अभी तक वह कुछ-कुछ जारी है।

हिन्दु धर्म में किसी भी मामले में आग्रह नहीं है। इस देश में तरह-तरह के, भाँति-भाँति के विचारों, धर्मों और पन्थों को माननेवाले लोक हैं। मूर्तिपूजा को माननेवाला हिन्दु, जो न माने वह भी हिन्दु। यहाँ तक कि ईश्वर को माननेवाला हिन्दु और न माननेवाला भी हिन्दु। हिन्दु धर्म में इतनी उदारता जो आयी, उसका श्रेय मैं शंकराचार्य को देता हूँ। यह कोई नयी बात नहीं है। वेद और उपनिषदों में भी यह थी ही। शंकराचार्य ने इसे समस्त जनता के सामने पेश किया और ऐसे करके तमाम अलग-अलग उपदेशों के बीच का विरोध दूर किया।

शंकराचार्य अद्वैत के महान् द्रष्टा थे। अद्वैत कैसे अनुभव में आयेगा? तुम और मैं एक हैं, जीवमात्र और परमेश्वर एक है- यह तो एकता की सीमा हो गयी। यदि हम ईश्वर के साथ अपनी एकता का दावा करते हैं, तो भूतदया का विस्तार ही साधना बन जाती है।

आज दया, प्रेम, करुणा है तो सही, परन्तु वे घर तक ही सीमित हैं। अपने बच्चों के लिए माता के हृदय में करुणा का सोता बहता है। घर-घर में लोग सात्विक प्रेमभाव का अनुभव पाते हैं। परन्तु यह प्रेमभाव सीमित है। पानी का बहना बन्द हो जाये, वह एक गड्ढे में भर जाये, तो सड़ने लगता है। जो प्रेम घर में बद्ध हो जाता है, उसे काम-वासना का रूप मिलता है, वह परिशुद्ध नहीं रहता। पड़ोसी से प्रेम, मानव-मात्र से प्रेम- इस तरह प्रेम का विस्तार होता जाये, तो जहाँ उसका परम-विस्तार होता है, वहाँ अद्वैत की अनुभूति होती है।

बी- 92 पी.सी. कॉलनी
लोहियानगर, पटना-20



आदिकाव्य की प्रकृति का विभावगत वर्णन

◆डा० श्याम सुन्दर पाण्डेय

आर्षकवि वाल्मीकि संस्कृत वाङ्मय विभागस्वरूप प्रकृति का आलम्बन एवं उद्दीपन के महामहिम आचार्य एवं आदिकवि के रूप में रूप ही उल्लिखित है।

समादृत हैं। वाल्मीकि-रामायण उनका आदिकाव्य 1. आलम्बन विभाव- 'यमावलम्ब्य रस उत्पद्यते है। इस आदिकाव्य में

प्रकृति-चित्रण अत्यन्त ही सुन्दर एवं स्वाभाविक है। इसमें अनुभूति की गहनता, कल्पना की स्वच्छता एवं उदात्त की अमिटता सर्वजनसंवेद्य है। नदी, झील, झरना, वन, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, पुष्प, पयोद आदि का चित्रण नयनाभिराम है।

चूँकि लेख की एक सीमा होती है। अतः सिन्धु में बिन्दुवत् इस विशाल ग्रन्थ का विभावरूप प्रकृति-चित्रण 'सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' के समान है। प्रकृति मानव की चिरन्तर सहचरी है।

प्रकृति का प्रतिपादन आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, आलंकारिक, अप्रस्तुत-योजना आदि रूप में किया गया है। प्रस्तुत लेख में केवल

आचार्य भरत ने कहा है- **विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**” अर्थात्, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन और उद्दीपन। सामान्यतः, प्रकृति चित्रण उद्दीपन विभाग के रूप में वर्णित होता है, जो नायक-नायिका द्वारा रस निष्पत्ति में केवल सहायक होता है, किन्तु यह आदिकाव्य का काव्यात्मक वैशिष्ट्य है कि यहाँ प्रकृति रस का केवल उद्दीपन ही नहीं, धारण करनेवाला आलम्बन भी है। आदिकाव्य में प्रकृति को आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में वर्णित किया गया है। -सं.

स आलम्बनविभावः।' अर्थात् जिसका आलम्बन लेकर रस की निष्पत्ति होती है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। वस्तुतः चित्रवृत्ति विशेष के विषयभूत विभाव को आलम्बन कहा जाता है। काव्य में वर्णित नायकादि भी आलम्बन कहे जाते हैं; क्योंकि इनके ही द्वारा सहृदयों के चित्त में रस का संचार होता है। दूसरे शब्दों में जिसपर रस आश्रित होता है उसे आलम्बन

कहते हैं। यथा- शृंगार रस में नायक-नायिका तथा वीररस में शत्रु आलम्बन होते हैं। रसमीमांसा के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है- 'काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावों के प्रकृत आधार पर विषय की कल्पना द्वारा पूर्ण तथा यथातथ्य

प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और आवश्यक कार्य है। इसके अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं- पहला भाव का विषय, आलम्बन, जिसमें मानव से लेकर कीट-पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वतादि, यानी सृष्टि का कोई भी नैसर्गिक पदार्थ, किन्तु दूसरा 'भाव को अनुभव करनेवाला आश्रय सहृदय मनुष्य ही। आलम्बन के रूप दो प्रकार से उपस्थित होते हैं- स्वानुभूत सौन्दर्य तथा प्रतिबिम्बित सौन्दर्य। प्रथम के अन्तर्गत प्रकृति सौन्दर्य की वाटिका है। इसे ग्रहण कर इन्द्रियाँ सुखानुभूति प्राप्त करती हैं। इसमें प्रकृति का आलम्बन प्रत्यक्ष और अनुभूति परोक्ष होती है। प्रकृति के इस सौन्दर्य साहचर्य में कवि अपनी सजगता और चेतना से उल्लसित हो उठता है।

दूसरा प्रतिबिम्बित सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रकृति मानवीय जीवन के समानान्तर लगती है। काव्य में प्रकृति अपने आप में लीन तथा क्रियाशील चित्रित होती है। परन्तु यह मानवीय चेतना का प्रतिबिम्ब ही है। प्राकृतिक सौन्दर्य के आलम्बन पर व्यापक सहानुभूति से जो भाव कवि के मन में उत्पन्न होते हैं; उन्हीं को वह प्रकृति पर प्रसरित कर देता है। ऐसा डा० रघुवंश का भी मत है।

चूँकि आलम्बन पर ही रस आश्रित है, अतः यह उद्दीपन का पूर्वगामी होता है। वाल्मीकि-रामायण में मन्दाकिनी की शोभा, चित्रकूट के शिखर, अत्रि-आश्रम, सुन्दरकाण्ड आदि के कतिपय दृश्य आलम्बन रूप को चित्रित करते हैं। यथा- मन्दाकिनी में आलम्बन दृश्य-

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम्।
कुसुमरूपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम्॥
मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भसि साम्प्रतम्।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं सञ्जनयन्ति मे॥

-अयो० का० 9419-10

यहाँ श्रीराम कहते हैं- "हे प्रिय! हंस और सारसों से सेवित, फूल-फलों से लदे हुए नाना प्रकार के तटवृक्षों से घिरी हुई तथा हरिणों के झुण्ड से कर्दमजल से युक्त यह मन्दाकिनी सुगन्धित सरोवर की भाँति सब ओर से सुशोभित हो रही है।"

चित्रकूट का आलम्बन रूप-

आम्रजाम्बसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः।

अङ्गोलैर्भव्यतिनिशैर्विल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥

अर्थात् आम, जामुन, असन, लोध, प्रियाल, कटहल, धव, अंकोल, भव्य, तिनिश, बेल, तिन्दुक, बाँस आदि आलम्बन रूप हैं। फल, फूल और जल से सम्पन्न यह पर्वत अलका, अमरावती और उत्तरकुरु को भी अपनी शोभा से तिरस्कृत कर रहा है।

दण्डकारण्य दृश्य :- नाना पुष्पों से युक्त, मृग, रीछ तथा वानरों से व्याप्त शरभंग तथा सुतीक्ष्ण आदि ऋषियों से सेवित यह दण्डकारण्य मानव मन को अनायास मोह लेता है। पंचाप्सर के अन्तर्गत संगीत ध्वनि से गुंजायमान मुनि माण्डकर्णिकाश्रम आधुनिक विज्ञान को भी लजा रहा है।

ऋतुवर्णन- हेमन्त ऋतु में इतनी ठंड पड़ रही है कि प्यास के मारे हाथी अपने सूँढ़ से शीतलजल का स्पर्श करता है और अत्यन्त ठंड के कारण बिना प्यास बुझाये ही सूँढ़ सिकोड़ लेता है।-

स्यूशान् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्तवृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥

अरण्य काण्ड- 16/2

वसन्तर्तु में मधुर मकरन्द के गन्ध से सम्पन्न मालती, मल्लिका, पद्म, करवीर, केतकी,

सिन्धुवार, वासन्ती तथा माधवी-लताएँ, कुन्दकुसुमों की झाड़ियाँ आदि सब ओर शोभा पा रही हैं।

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः सम्प्रपुष्पितैः।
निष्पत्रैः सर्वतोरम्यैः प्रदीप्ता इव किसुकैः॥

कि० काण्ड

वर्षाकाल का आलम्बन लेकर चेतनाचेतन सभी में काम की जागृति दर्शनीय है-

निद्राशनैः केशवभ्युपैति
द्रुता नदी सागरमभ्युपैति।

हृष्ट बलाका घनमभ्युपैति

कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति॥

अर्थात् निद्रा केशव के समीप, नदी सागर की ओर, बगुलियाँ मेघ की ओर, और प्रियतमा अपने प्रियतम की ओर गम्यमान है।

वस्तुतः वर्षाकाल में एक नया रोमांस जग जाता है। साहित्य में रूमानी भावना के प्रवर्तक महाकवि गेटे की 'द ट्रेजडी ऑफ फास्ट' में वाल्मीकि के प्रभाव का अनुपम उदात्तीकरण देखा जा सकता है। छविसुधा के पान की तृषा-माधुरी इस श्लोक में कितना मनोरम है-

मेघोदरविनिर्मुक्ता कर्पूरदलशीतलाः।

शक्यमज्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः॥

अर्थात् घ्राण, रसना, चक्षु और त्वक् को सन्तृप्त करनेवाला यह ऐन्द्रिय बिम्ब आपात रमणीय है। रसाकुलता का माधुर्य अकथनीय है-

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ति

सम्मोहिता भाति बलाकपङ्क्तिः।

वातावधूतावरपौण्डरीकि

लम्बेव माला रुचिराम्बस्य॥

वस्तुतः पावस के प्रभाव से चेतनाचेतन सभी कामासक्त हो अपने मनभावना की ओर गतिमान हो जाते हैं। यह चित्रण नहीं, दर्शन है। शारदीय-चित्रण का एक रमणीय श्लोकः-

जलं प्रसन्नं कुसुमं प्रहासं

क्रौञ्चस्वनं शालिवनं विपक्वम्।

मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः

शंसन्ति वर्षं व्यपनीतकालम्॥

कि. काण्ड

वस्तुतः महाकवि का यह शरच्चित्रण विराट् फलक पर आलेखित है। इसी प्रकार, विराट् समुद्र का रूप- "आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः।" आलम्बन-विभाव को पुष्ट करता है।

वन-पर्वत का आलम्बित रूप रामायण का मानदण्ड है। यथा- मतंगवन में तपस्वियों के स्वेदबिन्दु से उत्पन्न पुष्पवाटिका के पादपों का कभी नाश नहीं होता। एक ओर ऋष्यमूक पर्वत हाथियों से सुशोभित है, तो दूसरी ओर शतयोजन विस्तृत त्रिकूट पर्वत लंकापुरी से। यथा- 'शतयोजनविस्तीर्णं विमलं चारुदर्शनम्।'

(2) अब उद्दीपन विभाव का मनोरम भाव दृष्टव्य है। 'रसतरंगिणी' में कहा गया है- 'यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपनविभावः।' अर्थात् रस को उद्दीप्त करनेवाला विभाव उद्दीपन है। शृंगारादि के उद्दीपन विभाव निम्नलिखित हैः-

(क) शृंगार रस - ललित- मन में प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला।

(ख) हास्य रस - ललितभास- हास्यकारी श्रुत, दृष्ट तथा स्मृत भाव।

(ग) वीर रस - स्थित- स्थिरताधायक- श्रुत, दृष्ट, स्मृत तथा ध्याता।

(घ) अद्भुत रस - चित्र- हृदय में सदा विचित्रता के अनुभावक।

(ङ) करुण रसः - रुक्ष- आँखों एवं हृदय को कष्ट पहुँचानेवाला।

(च) रौद्ररस - खर- मन की कातरता उत्पन्न करनेवाला।

(छ) वीभत्सरस- निन्दित- आँखों को शीघ्र बन्द कर देनेवाला तथा अस्पृह्य।

(ज) भयानकरस- विकृत- इन्द्रियों के द्वारा विषय स्पर्श से विकार उत्पादक।

नवम शान्त रस का उद्दीपन अकथनीय है जो आदि-रामायण का हृदय है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों एवं सम-विषय गतियों द्वारा भाव प्रभावित होता है। प्रकृति का यह भाव प्रत्यक्ष उद्दीपन की सीमा बन जाती है। दूसरे शब्दों में, जब आश्रय की भावस्थिति का आलम्बन प्रत्यक्ष रूप से कोई व्यक्ति रहता है, उस समय प्रकृति उस भावस्थिति से उद्दीपन के रूप में ही व्यक्त होती है। यथा-वनगमन के समय जब श्रीराम अपनी भार्या सीता को वन की भयंकरता का आभास कराते हैं, तब वे सभी प्रतिकूल उपादान उद्दीपन रूप में प्रकट होते हैं। चूँकि ये सभी विकृत भाव के रूप है, जिससे भयानक रस उत्पन्न होता है।

दूसरी ओर- श्रीराम पुनः कहते हैं- “हे सीते! पर्वतों से निकली हुई नदियों को पार करना महाकष्टदायी है, पहाड़ों की गुफाओं में रहनेवाले सिंहों की दहाड़ सुनने में बड़ा कष्ट होता है, वन में अनेक जीव-जन्तु मनुष्य को देखते ही मारने दौड़ते हैं, पथ कण्टकाकीर्ण हैं, मोटे-मोटे अजगर घूमा करते हैं तथा भयंकर आंधी-तूफान से वन अस्त-व्यस्त रहता है।

गिरिनर्झिरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम्।

सिंहानां निनदा दुःखा श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥

क्रीडामानाश्च विश्रब्धमत्ताः शून्ये तथा मृगाः।

दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम्॥

इसी प्रकार, बक्सर जाने के क्रम में वन की भयंकरता भयानक रस का उद्दीपन भाव है। चित्रकूट के मार्ग में पड़नेवाले नाना प्रकार के

पुष्पों से युक्त वृक्षों को देखकर सीता का मन उद्दीप्त हो उठता है-

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान्।

सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः॥

विचित्रबालुकजलां हंससारसनादिताम्।

रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम्॥

यहाँ पुष्प, बालुकामय तट, सारस आदि का मधुर स्वर मन को उद्दीप्त करता है।

दण्डकारण्य में मुनि माण्डकर्णिक के आश्रमान्तर्गत पञ्चाप्सराओं के मधुर संगीत ध्वनि से राम का मन उद्दीप्त हो जाता है।

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने।

कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम्॥

सीताहरण के पश्चात् श्रीराम वियोग में अत्यन्त विह्वल हो जाते हैं। उन्हें चेतनाचेतन का ज्ञान नहीं रहता। वे पेड़-पौधे, लता-पत्र, मृग, मयूर, भ्रमर आदि से सीता का पता पूछते हैं। यथा- हे कर्णिकार! आज तो तुम पुष्पों से अत्यन्त सुशोभित हो। यदि मेरी सीता को देखा है, तो बतला दो।

अहो त्वं कर्णिकाराद्य पुष्यितः शोभसे भृशम्।

कर्णिकारप्रियां साध्वीं शंस दृष्ट्वा यदि प्रिया॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्यसि।

यहाँ वियोग में राम का दुःखी होना 'रुक्ष विभाव' है। करुण रस फूट पड़ा है। इसी प्रकार, दण्डकारण्य में कपटी स्वर्णमृग को देख सीता का मन मोहित हो जाता है। वह लक्ष्मण से कहती है-

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः।

हेमन्ततु में जल का स्वादिष्ट होना ही मन की उद्दीप्तता का सूचक है:-

दिवसा सुभगादित्याच्छायासलिलदुर्भगाः।

मृदु सूर्याः सुनीहाराः पटुशीताः समारुताः॥

पंचवटी में राम के सौन्दर्य को देखकर शूर्पणखा का मोहित होना, उद्दीपन विभाव का स्वाभाविक उदाहरण है।

वसन्तर्तु की शीतल-मन्द-सुगन्ध हवा श्रीराम को विह्वल बना देती है। वे सीता से मिलना चाहते हैं; किन्तु वियोग के कारण उनका शोक और प्रबल हो जाता है। यहाँ करुण रस की धारा अनायास प्रवाहित होने लगती है। वे लक्ष्मण से कहते हैं-

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः।

सीतया विप्रहीनस्य शोकसंदीपने मम॥

वासन्तिक छटा में मधुर-मकरन्द के सुगन्ध से, गुणगुनाते भ्रमरों के व्याज से तथा जल-कुक्कुट एवं नरकोकिलों के कलनाद से राम की अनङ्गवेदना जागृत हो जाती है। 'ये सभी कामोद्दीपक भाव श्रीराम को इतना विह्वल बना देते हैं कि उन्हें प्रिया के बिना जीवन ही निःसार लगता है। यथा-

मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्द्धितः।

अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निनचिरादिव॥

वस्तुतः इस ऋतु में वियोगी जन पर जब काम का ज्वर चढ़ जाता है, तब उसे प्रकृति की प्रतिकूलता भी अनुकूल ही दृष्ट होती है। अतः राम की कल्पना है कि संयोगावस्था में काक के ध्वनि सीता के भावी वियोग की सूचक थी, किन्तु आज वियोगकाल में उसकी बोली शीघ्र संयोग को बता रही है।

वर्षा ऋतु तो कामऋतु ही है। मन्द पवनरूपी निःश्वास एवं सन्ध्या की लाली से मेघ कामातुर प्रतीत होता है। नीलमेघ के बीच उपस्थित विद्युत् को देखकर रावण के अंक में छटपटाती हुई सीता का आभास होता है। यह उद्दीपन विभाव का

कमाल है। इस काल में राम का मन और तब उद्दीपत हो उठता है, जब चकवा चकई से मिलती है, मयूरों की केकाध्वनि होती है, बलाकाएँ पंक्तिबद्ध होती हैं। पृथ्वी शस्यश्यामला हो जाती है, नदियाँ प्रवहमान हैं, बादल बरस रहे हैं, प्रियतमा के वियोग से वियोगी जन चिन्ता-मग्न हो रहे हैं एवं भ्रमरों के गीतादि से संगीत की लहरी सर्वत्र व्याप्त हो रही है। राम अनायास ही कहते हैं-

मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान्।

शरद ऋतु में पाण्डुर गगन, विमल-चन्द्र-मण्डल एवं शारदी या रजनी किस प्रिय के मन को जागृत नहीं कर देती! इसीलिए तो सारस की आवाज सुनकर श्रीराम कहते हैं-

याश्रमे रमते बाला साद्य मे रमते कथम्।

उपर्युक्त सारे प्रकृति के विभाग विभागगत रूप में समासतः दृष्टव्य है। चूँकि वाल्मीकि-रामायण उपजीव्य होने के कारण विराट् फलकयुक्त है। अतः प्रकृति का यहाँ विराट् चित्रण हुआ है, जिसके कारण प्रकृति यहाँ कभी नायिका भी बनकर रस की संधारिका हो जाती है।

-व्याख्याता, संस्कृत विभाग

संजय गाँधी स्मारक महिला महाविद्यालय

शेखपुरा



महाकवि कालिदास का शिव प्रेम

◆ डॉ० सत्या दयाल

सरस्वती को बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी माना जाता है। किन्तु बुद्धि, विद्या का सच्चा दाता भगवान् शिव को भी माना जाता है। सम्पूर्ण संसार को सर्जित और संहृत करने की शक्ति, शिव और शक्ति में ही सन्निहित है। व्याकरण- शास्त्र के प्रारम्भ में जिन चौदह सूत्रों का वर्णन किया है, उसे माहेश्वर सूत्र कहने की जो कथा 'कथा- सरित्सागर' में है, वह भले कल्पनामात्र हो, किन्तु भारतीय चिन्तन की

महाकवि सभी ग्रन्थों के प्रारम्भ प्रसंगों में शिव के प्रति व्यक्त की है, इससे के प्रति अपार प्रेम 'रघुवंश' के प्रथम एवं शक्ति को जगत् मानकर इस प्रकार वागधार्ताविव वागर्थप्रतिपत्तये ।

जगतः पितरौ बन्दे कुमारसम्भव हिमालय के महत्त्व को प्रारम्भ होता है, किन्तु शिव और शक्ति की आध्यात्मिक-लीलाओं कालिदास ने शिव और

कवि के काव्यों में प्रसंगानुकूल अनेक देवों के प्रति भक्तिभावना के वर्णन मिल जाते हैं, किन्तु कवि के स्वेष्टदेव- आराध्य की झलक मंगलाचरणों से मिलती है। महाकवि कालिदास के आराध्य शिव प्रतीत होते हैं। उन्होंने रघुवंश तथा तीनों नाटकों के मंगलाचरण में शिव की स्तुति की है। साथ ही, कालिदास द्वारा वर्णित शिव एक ओर वेदान्तियों के मत में एकमात्र पुरुष हैं, तो दूसरी ओर अर्द्धनारीश्वर, कृत्तिवासा, नटराज और गृहस्थ हैं। कालिदास के शिव का यह गार्हस्थ-रूप उनके जन्मस्थान के अन्वेषण में भी सहायक हो सकता है। कालिदास की शिव-भक्ति और उनकी दृष्टि में शिव के स्वरूप का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।- सं.

प्रवृत्ति को दर्शाती है। कालिदास ने अपने में तथा विभिन्न अपनी अनन्य श्रद्धा महाकवि का शिव झलकता है। श्लोक में ही शिव के माता-पिता वंदना की गयी है- संपृक्ता

पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ महाकाव्य यद्यपि अभिव्यक्त करते हुए उसकी सम्पूर्ण गाथा मानवीय और से परिपूर्ण महाकवि शक्ति के विविध

रूपों का मानव और देवकल्याण तथा दानवीय शक्ति के दमन के रूपों में दिखाया है। शिव की प्राप्ति सुगमता तथा सरलता से नहीं, वरन् कठोर साधना, श्रद्धा एवं भक्ति के द्वारा ही हो सकती है। इस महाकाव्य में कालिदास ने उसे पार्वती के द्वारा सिद्ध किया है।

भगवान् शिव ने अपनी कठोर साधना तथा मन की संयमशीलता से संसार में उत्पात मचाने वाले कामदेव को जब भस्म किया था, उस समय पार्वती का उत्साह टूट गया और वह दुखी रहने

लगी तथा अपने सौन्दर्य की विविध प्रकार से निन्दा करने लगी। जब पार्वती ने शंकर को अपनी ओर तनिक भी आकृष्ट होते नहीं देखा, तब वह उन्हें तप से अधिक प्रभावित करने की सोचने लगी। पार्वती की भगवान् शंकर के प्रति अनन्य भक्ति थी, किन्तु विनीत और आज्ञाकारी होने के कारण वह पिता की इच्छा के विपरीत भी कोई काम नहीं करना चाहती थी। दृढ़निश्चयी पार्वती ने शिव को पाने के लिए इतनी कठोर तपस्या की कि उसने अपने कमल के समान शरीर का तनिक भी ध्यान नहीं रखा।

कुमारसम्भव के पाँचवे सर्ग में महाकवि कालिदास ने तपस्या के बल पर पार्वती को भगवान् शंकर का दर्शन एक ब्रह्मचारी के रूप में कराया है और शंकर ने पार्वती की भक्ति की भी परीक्षा लेकर उसे सच्चा पाया।

‘कुमारसम्भव’ के पाँचवे सर्ग की विषयवस्तु को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कालिदास ने स्वयं भी शंकर का कठिन व्रत धारण करके साधना की हो, शंकर समाधि में इतने दृढ़ हैं कि उन्हें कोई शीघ्रता से विचलित नहीं कर सकता है।

‘कुमारसम्भव’ महाकाव्य के उद्धरणों से महाकवि कालिदास की शिवभक्ति का ज्ञान अच्छा प्रकार से होता है। अपनी शिवभक्ति को कवि ने पार्वती की साधना में बड़ी तन्मयता के साथ व्यक्त किया है। कालिदास ने ‘कुमारसम्भव’ में अपनी शिवभक्ति; शिवधाम केदारनाथ के प्रति निष्ठा, तपस्या की भूमि हिमालय के महत्त्व, महिमा का सूक्ष्म विवेचन किया है। कुमारसम्भव में कालिदास भगवान् शंकर को एक महान् तपस्वी और समाधि में तल्लीन दिखाया है, किन्तु दूसरी ओर पार्वती के सौन्दर्य तथा भक्ति से प्रभावित भी दिखाया गया है।

कुमारसम्भव में कामदेव ब्रह्मा के शाप के ही कारण भस्म हुआ और शिव की कृपा से सृष्टि की उत्पत्ति के लिये मनुष्यों के हृदय में रति की भक्ति के कारण ही पुनरुज्जीवित हुआ।

पार्वती के गुणों को देखकर हिमालय को यह विदित था कि वह पहले जन्म में शिव की पत्नी थी और अब भी वह साधना एवं आराधना करके शिव को प्राप्त करेगी। अतः हिमालय ने ही उसे शिव की पूजा करने की स्मृति दिखाई। शिव अपने शिवत्व गुण के कारण तीनों लोकों में पूजे जाते हैं

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा।

आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजा॥ कुमारसम्भव १/५८

अर्थात्- जिस महादेव को स्वर्ग में देवता पूजते हैं, उसकी पूजा के लिए हिमालय अपनी कन्या के साथ ही सेवा में बहुमूल्य पूजा की सामग्री लेकर पहुँचे। पहले उसने शिव की पूजा की और उसके पश्चात् अपनी कन्या को आज्ञा दी कि अपनी सखियों के साथ जाकर शिव की पूजा करे।

महाकवि कालिदास ने ‘कुमारसम्भव’ महाकाव्य के द्वारा शिव के प्रति अपनी अनन्य श्रद्धायुक्त भक्ति को सांसारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से दिखाया है।

महाकवि कालिदास अपनी प्रसिद्ध रचना ‘अभिज्ञानशकुन्तलम्’ नाटक में भगवान् शंकर की भक्ति में पूरी तरह तल्लीन हो गये थे। शकुन्तला-नाटक के प्रारम्भ में ही भगवान् शंकर के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा शंकर की आठ मूर्तियों का प्रतिपादन कालिदास ने इस प्रकार किया है।

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहृतं या हविर्या च होत्री

ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्रणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षामिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिष्टाभिरीशः।

इस श्लोक में जल, तेज, अग्नि होता सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु के रूप में भगवान् शिव को प्रत्यक्ष रूप में दिखनेवाली आठ मूर्तियों का वर्णन किया है।

‘विक्रमोर्वशीय’ नाटक के भी मंगलाचरण में कालिदास ने भगवान् शंकर के रूप को सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त दिखाया है। अपनी सच्ची भक्ति, शुद्ध दृष्टि और उत्तरोत्तर परमकोटि में रमनेवाले मन से महाकवि कालिदास ने शंकर के प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त की है। कालिदास के शब्दों में भगवान् शिव वेदान्तियों द्वारा उक्त एकमात्र पुरुष (ब्रह्म) हैं और मोक्ष चाहनेवाले योग के द्वारा उन्हीं की खोज करते हैं-

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥

‘मालविकाग्निमित्र’ नाटक के मंगलाचरण में कालिदास ने सद्बुद्धि और सुबुद्धि के दाता देवों के देव महादेव की प्रार्थना की है, जिससे संसार में रहते हुए मनुष्य अच्छे ही कार्य करे और बुरे कार्यों के प्रति उनकी रुचि न हो।

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासा
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्ब्रिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥

अर्थात्, अपने भक्तों को मनवांछित फल देने का अलौकिक भण्डार अपने पास होते हुए भी जो केवल हाथी की खाल ओढ़कर ही अपना कार्य चला लेते हैं। अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी को बैठाये रहने पर भी जो संसार के भोगों से अपना मन दूर हटाये रहते हैं और अपने आठों रूपों से सारे संसार का पालन करते हुए भी जो अभिमान को अपने पास नहीं आने देते, ऐसे संसार के स्वामी महादेव पाप की ओर ले जाने वाली हमारी बुद्धि को इस प्रकार मिटा दे कि हमारा मन अच्छे काम करने में ही लगे।

महाकवि कालिदास ने अपनी शिवभक्ति के द्वारा अपना ही कल्याण नहीं चाहा, अपितु अपने पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों का भी हृदय से कल्याण चाहा है। ये उनके सच्चे मानवीय विचार हैं। अपनी शिवभक्ति से महाकवि कालिदास भगवान् शंकर के परम भक्त और हिमालय के विशेष अनुरागी हैं।

‘रघुवंश’ महाकाव्य में कालिदास ने शिवभक्ति पर एक सुन्दर वर्णन इस प्रकार दिया है-

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्युरस्तादनुपेक्षणीयम्।

अर्थात्- “जड़ चेतन सभी प्राणियों को जन्म देनेवाले, पालन-पोषण करनेवाले और संहार करनेवाले शिव का मैं बहुत आदर करता हूँ, किन्तु साथ ही साथ, मैं अग्निहोत्री गुरु के इस गौ रूपी धन को भी अपनी आँखों के सामने नष्ट होते नहीं देख सकता हूँ।”

महाकवि कालिदास द्वारा अनुस्यूत इस प्रकार के प्रसंगों को देखकर भगवान् शंकर के प्रति अनन्य भक्ति परिलक्षित होती है। हिमालय तथा कैलाश में तपस्या करते हुए एक सच्चे साधक के रूप में कालिदास ने शिव को देखा है। उन्होंने शिव के सौम्य, कल्याणमय, आशुतोष, महादानी एवं विश्वम्भर रूप को अच्छी प्रकार देखा है।

महाकवि कालिदास के सभी अमर-काव्यों का अध्ययन करने के बाद यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास के हृदय में भगवान् शंकर के प्रति विशेष अनुराग था। वह सम्पूर्ण रूप से उनकी रचनाओं के माध्यम से देखी जा सकती है। इससे महाकवि का शिव के प्रति स्पष्ट प्रेम परिलक्षित होता है।

महाकवि कालिदास के ‘विक्रमोर्वशीय’ नाटक के चौथे अंक में इस प्रकार शिवभक्ति के भाव दृष्टिगत हो रहे हैं- “हे संगमनीय मणि! तुम मुझे उस सुन्दरी से मिला दोगी, तो मैं तुम्हें उसी प्रकार अपने मुकुट में लगा दूँगा, जैसे शिवजी ने बालचन्द्रमा को अपनी जटा में रख दिया है।”

‘मेघदूत’ में महाकवि ने शिव के प्रति अपने भक्तिभाव व्यक्त करने के लिए कुछ कम वर्णन नहीं किया है। रामगिरि पर्वत से मेघ जब उज्जयिनी पहुँचता है, उस समय अपनी शिव के प्रति भक्ति को कालिदास भूलते नहीं है, अपितु मेघ को भी महाकाल का दर्शन करने की प्रार्थना करते हैं-

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्षमाणः

पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वस्य

धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या

स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिवतैर्मरुद्भिः । (पूर्वमेघ : 37)

अर्थात्- “अपने प्रभु नीलकण्ठ के गले जैसी कान्तिवाले तुमको गण लोग आदर से देखेंगे। तब तुम त्रिभुवनगुरु शिव के उस पवित्र धाम महाकाल को जाना जहाँ के उद्यानों में, कमल किंजल्क से परिपूर्ण गन्धवती नदी के जल में जलक्रीडा करती हुई युवतियों के अंगवास से अति ही सुगन्धित वायु बहता रहता है।”

महाकवि कालिदास ने कैलाश, हिमालय और केदारखण्ड में शिव के प्रति अपनी भक्ति को व्यक्त किया है, उसी प्रकार उज्जयिनी में महाकाल के स्वरूप में भी मेघदूत में अपनी अनन्य भक्ति दिखाई है-

अप्यन्यस्मिज्जलधर महाकाल मासाद्य काले

स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः

कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया

मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्विताम् । (पूर्वमेघ 38 श्लोक)

अर्थात्- “हे मेघ! यदि तुम सन्ध्या समय के अतिरिक्त किसी दूसरे समय में भी महाकाल के पास पहुँचो, तो सूर्यास्त होने तक वही ठहरना; क्योंकि सन्ध्या की पूजा में तुम्हारी गम्भीर गर्जनाएँ

नगाड़ों का काम देगी और महाकाल के प्रसाद से तुम्हें उन गर्जनाओं का सम्पूर्ण फल प्राप्त होगा।”

कालिदास ने यक्ष के रूप में शिव के ताण्डव नृत्य में मेघ को अपनी सहज भक्ति का परिचय पूर्वमेघ के 40वें श्लोक में इस प्रकार दिया है-

पश्चादुच्चैर्भुजरुपवनं मण्डलेनाभिलीनः

सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजवापुष्परक्तं दधानः।

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां

शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः॥ (पूर्वमेघ 40 श्लोक)

अर्थात्- “सन्ध्या की पूजा के पश्चात् जब शिव ताण्डव आरम्भ करते हुए वृक्षों समान अपनी ऊँची भुजाओं को उपर उठायेंगे तब तुम जवा-कुसुम जैसी लाल-लाल सान्ध्य शोभा धारण कर वृताकार होकर उनकी भुजाओं में घिर जाना। भय दूर हो जाने से पार्वती शान्त नेत्रों से तुम्हारी ओर देखेगी और तुम शिव की तत्काल मारे हुए गजासुर के चूते हुए चर्म को ओढ़ने की इच्छा को पूरी कर देना।”

हिमालय पार्वती की जन्मभूमि तो है ही किन्तु भगवान् शंकर की तपस्या की भूमि तथा शिव के श्वसुर गृह का पावन स्थल भी है। परम शैव कालिदास को उस भूमि में सर्वत्र शिव के चरणों के ही दर्शन हो रहे हैं। कालिदास ने पूर्वमेघ के 59वें श्लोक में शिव के चरण-चिह्न से युक्त शिला का वर्णन किया है-

तत्र व्यक्तं वृषदि चरणव्यासमर्धेन्दुमौलेः

शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीया।

यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः

कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः॥

अर्थात्- “हिमालय के केदारखण्ड कालीमठ और कविल्ठा ग्राम के निकट वहाँ एक शिला में भगवान् शंकर का चरण-चिह्न स्पष्ट दिखाई देता है, जिसकी सिद्ध लोग निरन्तर पूजा करते हैं एवं जिसका दर्शन होने पर भक्तगण मरने पर पाप रहित होकर स्थायी रूप से शिव के पार्षद हो जाते हैं। तुम भी उसकी भक्तिपूर्वक झुककर प्रदक्षिणा करना।”

महाकवि कालिदास रामगिरि में राम के चरण-चिह्नों का और अपनी जन्मभूमि के निकट की ऊँची चोटी पर शिव के चरण-चिह्न का वर्णन कर अपनी आत्मकथा लिखी है। शिव और राम के एकत्व का भी सूक्ष्म निरूपण की एकता स्पष्ट किया है।

रघुवंश महाकाव्य के प्रारम्भ में ही महाकवि कालिदास ने अपनी शिवभक्ति के प्रति अपनी अनन्य-श्रद्धा-पुनीत भावों को तो दिखाया है; किन्तु राजा दिलीप तथा सिंह के प्रकरण में अपनी शिव-शक्ति की भक्ति को भी इस प्रकार दिखाया है- “मुझे तुम साधारण सिंह मत समझो। मैं सर्वशक्तिशाली शंकरजी का कृपापात्र और सेवक कुम्भोदर नाम का गण हूँ तथा शिव के शक्तिशाली गण निकुम्भ का मित्र हूँ। जब शिव कैलाश पर्वत के समान उजले नन्दी पर चढ़ते हैं, तब उसके पहले अपने चरणों से मेरी पीठ पवित्र करते हैं।”

सांसारिक दृष्टि से पुत्र की प्राप्ति के लिए मानव अत्यन्त उत्सुक रहता है। राजा दिलीप जैसे अनेक राजाओं ने पुत्र प्राप्ति के लिये अत्यधिक कष्ट भी झेले हैं। उस पुत्र-प्राप्ति की प्रसन्नता पर महाकवि कालिदास ने अपनी शिव-शक्ति की भक्ति एवं पुत्र प्राप्ति का महत्त्व को इस प्रकार वर्णन किया है-

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना बभौ यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।

तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ। (रघु ३/२३)

अर्थात्- जैसे कार्तिकेय के समान पुत्र को पाकर शिव और पार्वती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी एवं जयन्त जैसे प्रतापी पुत्र को पाकर इन्द्र तथा शची प्रसन्न हुये, उसी प्रकार राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा को भी उनदोनों के समान तेजस्वी पुत्र रघु को पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई।”

अपनी शिवभक्ति की महिमा अपने ग्रन्थों में महाकवि कालिदास ने प्रकरणों के अनुसार सटीक रूप में व्यक्त किया गया है तथा रघुवंश महाकाव्य में एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार दिया है-

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थिति प्रत्यवहारहेतुः।

गुरोरपीदं धनमहिताग्नेर्नश्यत्युर स्तादनुपेक्षणीयम्। (रघुवंश २/४४)

देखो! जड़ चेतन सभी प्राणियों को जन्म देनेवाले, पालन पोषण करनेवाले शिव का मैं बहुत आदर करता हूँ किन्तु साथ ही साथ मैं अग्निहोत्री गुरु के इस गौरूपी धन को भी अपने आँखों के सामने नष्ट होते नहीं देख सकता हूँ।”

महाकवि कालिदास ने अपने युग की सही धारणाओं को शिवभक्ति और गुरुभक्ति के इस उद्धरण में अत्यन्त सुन्दर रूप में वर्णन किया है।

कालिदास की अनन्य भक्ति श्रद्धा एवं विश्वास है कि शिव के दर्शन करने से लोगों के सब पाप धूल जाते हैं और वे मुक्त हो जाते हैं। कालिदास भी संसार से मुक्त होकर शिवलोक में निवास करने की कामना करते हैं।

महाकवि कालिदास के वर्णित प्रसंगों को देखकर भगवान् शंकर के प्रति अनन्य भक्ति परिलक्षित होती है। हिमालय तथा कैलाश में तपस्या करते हुए एक सच्चे साधक के रूप में कालिदास ने शिव को देखा है। भगवान् के विविध चमत्कारी लीलाओं को सभी नहीं जानते। महाकवि कालिदास ने शिव के सौम्य कल्याणमय आशुतोष, महादानी एवं विश्वम्भर रूप को अच्छी प्रकार देखा है। शिव और शक्ति के पावन स्थान हिमालय के प्रति भी उनका विशेष अनुराग था। वह सम्पूर्ण हिमालय को शिवमय समझकर उनदोनों के प्रति अनुरागी रहे हैं। इस प्रकार कालिदास की शिव-भक्ति और हिमालय के प्रति उनका अनुराग उनकी रचनाओं में विशेष रूप से देखा जाता है।

B-42, कंकड़बाग हाउसिंग कालोनी,

पटना-800020



‘वेतालपचीसी’ का गूढार्थ-व्यंजक शिल्प

-डॉ. श्याम सुन्दर घोष

भारत शुरू से ही मन्त्रदेश रहा है। जैसे तो कोई भी देश, कुछ न कुछ अंशों में, कथादेश होता ही है। पर जो देश जितना ही पुराना होता है, वह उतना ही समृद्ध कथादेश होता है। भारत की वाचिक-समृद्धि का एक इतिहास रहा है। जब लिखने-पढ़ने की वैसी सुविधा नहीं थी, तब भी हमारे यहाँ बहुत सारा ज्ञान कथाओं के माध्यम से निःसृत हुआ। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार अमृत लाल नागर बातचीत में कहा करते थे, हमारे यहाँ कथा यूनियर्सिटीयाँ हुआ

करती थीं। तब उन्होंने अपना प्रसिद्ध उपन्यास ‘एकदा नैमिषारण्ये’ नहीं लिखा था। भारतीय कथा-परम्परा के बारे में जब उनसे बातें होती थी, तो उनपर दवाब बनता था कि वे प्राचीन भारतीय कथा-परम्परा पर उपन्यास लिखें। ‘एकदा नैमिषारण्ये’ इसी का प्रतिफल था।

भारतीय कथा-परम्परा का श्रीगणेश यदि हम संस्कृत में मानें, हमें मानना ही चाहिये; क्योंकि जिस गुणाद्य ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा का प्रणयन किया था, उस कथा-परम्परा का कोई भी पूर्वरूप या दृष्टान्त आज उपलब्ध नहीं है। पैशाची कथा-परम्परा कितनी समृद्ध रही होगी, इसका अनुमान गुणाद्य और उसकी रचना से लगाया जा सकता है। पर, सृष्टि नश्वर है, विनाशशील है, बड़ी-बड़ी समृद्ध सम्पन्न समताएँ भी जमींदोज हो जाती हैं। ऐसे में किसी कथा-परम्परा का

भारत में प्राचीन काल से लेकर आजतक अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए साधना के नाम पर तान्त्रिक-कुकृत्य होते रहे हैं, किन्तु अनेक माध्यमों के द्वारा उनका विरोध भी होता रहा है। ‘वेताल-पचीसी’ की कथा भी इन्हीं तान्त्रिक-कुकृत्यों को ध्वस्त करने का स्वर देती है। राजा त्रिविक्रम वेताल की कथाओं के कारण स्वयं उस तान्त्रिक की चपेट से बचकर उसका वध करने में समर्थ हो जाते हैं। इस ‘वेताल-पचीसी’ के शिल्प पर गम्भीर विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। -सं०

विस्मृत और विनष्ट हो जाना स्वाभाविक है। पर हमारी मान्यता है कि लिखा हुआ और बोला हुआ, यदि उसमें जन-मन-रंजन या जनकल्याण का भाव हो, तो वह बेकार नहीं जाता, उसका कुछ न कुछ अंश, किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं, जरूर रह जाता है। समय आने पर लोग

उसे खुरचकर किसी न किसी प्रकार, प्राप्त कर ही लेते हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा से प्रेरणा पाकर समृद्ध भाषा संस्कृत में नई रचनाएँ प्रणीत हुई। इस सम्बन्ध में चार विशेषोल्लेख हैं। डा श्रीरंजन सूरदेव ने लिखा है- “विलुप्त बृहत्कथा की मूल कथावस्तु से परिचय करानेवाले उसके वंशज कथाग्रन्थ कुल चार है- बुधस्वामी प्रणीत ‘बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह’ (नेपाली वाचना) सोमदेवभट्ट रचित ‘कथासरित्सागर (कथा वाचना), आचार्य क्षेमेन्द्र-कृत ‘बृहत्कथामंजरी’ (कश्मीरी वाचना) और आचार्य संघदासगणी प्रणीत प्राकृत बृहत्कथा ‘वसुदेवहिण्डी (जैन वाचना)। इन चार वाचनाओं में प्रथम तीन के प्रस्तोताओं ने अपने कथा-ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने-अपने कथाग्रन्थों में बृहत्कथा का ही सार-संग्रह किया है।” (उपक्रमणी, वेताल पचीसी, पृ. 1)

संस्कृत में, संस्कृत की अपनी कथा-परम्परा भी, बहुत समृद्ध है। समृद्ध साहित्य ही अपने से कम विकसित और अपेक्षाकृत अल्पज्ञात और अल्पख्यात साहित्य की विशिष्टताओं को, अपने में आत्मसात् करता है, और इस प्रकार अधिक समृद्ध होता है। स्मृत कथा-परम्परा ने भी ऐसा ही किया है। आज विद्वान् मानते हैं कि प्राचीन काल से ही संस्कृत में दो कथा-परम्पराएँ सामानान्तर गति से आगे बढ़ती और विकसित होती रही है- एक है- ‘बृहत्कथा’ की परम्परा और दूसरी पंचतन्त्र कथा की परम्परा। अब तो ये दोनों कथा-परम्पराएँ संस्कृत की अपनी है। पर मैं मानता हूँ, संस्कृत की अपनी कथा-परम्परा पंचतन्त्र-कथा-परम्परा ही है क्यों मानता हूँ, मैं ऐसा? क्या दोनों कथा-परम्पराओं में मूलभेद है? आइये, इसपर विचार करें।

संस्कृत कभी लोकभाषा रही हो, तो रही हो, पर हम उसे जब से जानते हैं, और जिस रूप में जानते हैं, वह पण्डित-भाषा ही रही है। आज भी वह पण्डित-भाषा ही मानी जाती है। संस्कृत-साहित्य में दो परम्पराएँ बहुत प्रसिद्ध हैं- आचार्य-परम्परा और कवि-परम्परा। वहाँ कथा-परम्परा को वह महत्त्व नहीं प्राप्त है, जो आचार्य-परम्परा और कवि-परम्परा में प्राप्त है। संस्कृत में जिस कथा-परम्परा का विकास हुआ, वह भी आचार्य-परम्परा ही है। उसमें स्पष्ट सामाजिक उद्देश्य हैं। ‘दशकुमारचरित’ में कथा द्वारा इन राजकुमारों को शिक्षा देने का कार्य सम्पन्न हुआ है। पंचतन्त्र की कथा कहनेवाले भी विद्वान् पण्डित ही थे। ऐसी कथा-परम्परा का एक विशेष रूप होता है, यह सोद्देश्य होती है। यहाँ कथात्मकता साधन होती है, साध्य नहीं। संस्कृत की पंचतन्त्र-कथा-परम्परा में उतना ही समेटा जा सकता था, जो शिक्षा की परिधि में आ सकता था। उसमें बहुत उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता नहीं लगी जा सकती थी। उसके काम-प्रसंगों, क्रीड़ाओं सारी पीड़ाओं के वैसे वर्णन नहीं हो सकते थे, जैसे ‘वेतालपचीसी’ में हुए हैं।

अब यहाँ पर मुझे ‘वेतालपचीसी’ को ‘सिंहासनबत्तीसी’ के प्रसंग में देखना और परखना पड़ रहा है। ‘सिंहासनबत्तीसी’ में भी बत्तीस कहानियाँ हैं, जो सिंहासन में लगी सभी बत्तीस पुतलियाँ राजा से कहती हैं और राजा धैर्यपूर्वक सुनते हैं। यहाँ कथा कहनेवाली पुतलियाँ कामिनियाँ हैं। वे सभी वास्तव में देवी पार्वती की बत्तीस अप्सराएँ सखियाँ थीं, जो शिव और पार्वती के मिलन-प्रसंग में अनावश्यक उपस्थित हो गई थीं। इस अनुचित-प्रचरण के लिए उन्हें देवी पार्वती का शाप मिला कि वे पुतलियाँ होकर इन्द्र

के सिंहासन में जा लगे। पुतलियाँ जानती थीं कि अनर्गल आचरण का क्या परिणाम होता है। इसलिये वे अनर्गल कथन भी, चाहे कहानियाँ ही क्यों न हो, महाराज से नहीं कह सकती थीं। विशेषकर तब, जबकि सुननेवाला विक्रमादित्य जैसा तेजस्वी और प्रतापी सम्राट् हो। इसलिये सिंहासन-बत्तीसी की कहानियाँ मर्यादित कहानियाँ हैं। 'सिंहासन-बत्तीसी' की तुलना में 'वेताल-पचीसी' की कहानियाँ ज्यादा उन्मुक्त और सरस हैं।

मैं 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'वेताल-पचीसी' दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानता हूँ। यदि मुझसे पूछा जाय कि इन दो में से मैं किसे 'विशेष' मानूँगा, तो मैं 'वेताल-पचीसी' को ही तरजीह दूँगा। इसके कारण हैं। कहानियों में कुछ अलौकिकता, कुछ अद्वितीयता आज के पाठक भी पसन्द करते हैं। वह कहानी ही क्या, जो थोड़ी देर के लिये हमें इस लोक से अलग एक भिन्न लोक में न ले जाये। जीवन की सामान्य या त्रासद स्थितियाँ से मुक्त कर एक भिन्न कथालोक में ले जाकर रसमग्न न करें। ऐसे लोकों में प्रेम और काम का लोक सदा से सहृदयों में आकर्षण का विषय रहा है। 'वेताल-पचीसी' में यदी सम्पन्न हुआ है। 'सिंहासन बत्तीसी' में ऐसा कथालोक नहीं लिखा जा सकता था; क्योंकि पुतलियाँ भी अपनी सीमा-मर्यादाधीन हैं, पर 'वेतालपचीसी' में कथावाचक वेताल है। वह लौकिकता से चालित नहीं है। वह अलौकिक है, इसलिए अलौकिक कह सकता है। इस सम्बन्ध में उसको कोई बाधा-बन्धन नहीं है।

फिर, यह बात भी है कि 'सिंहासनबत्तीसी' में कहानियाँ दिन में उजाले में कही गयी हैं जबकि 'वेताल पचीसी' में ये रात में कही गई हैं।

वातावरण का असर रचना पर तो होता ही है। 'वेतालपचीसी' की कहानियाँ में यह स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ जिन पुरुषों और स्त्रियों का चित्रण है, वे कामार्त, काम-मोहित और कामदग्ध हैं। वे कामदशा के वशीभूत इस रूप में चित्रित और वर्णित हैं कि आर्त होने पर भी मोहक और स्वाभाविक लगते हैं। कहावत है- 'आरत काह न करहि कुकर्मा' फिर ये तो कामार्त हैं। इस रूप में 'वेतालपचीसी' की कहानियाँ विशेष उद्दीपक हैं। यहाँ युवा नारी-पुरुषों का जो सब वर्णन है, वह जैसे एक दूसरे को आकर्षित करनेवाला है, वैसे ही पाठक को भी आकर्षित करनेवाला है। काम-दशाओं और रति-प्रसंगों का बहुत खुलकर वे कामवर्णन हुआ है, पर उनमें से अश्लीलता का बोध नहीं, सहज स्वाभाविकता का बोध होता है। लगता है, वेताल जान-बूझकर राजा को ऐसी कथाएँ सुनाता है, जो रात में अँधेरे में, वियावान सन्नाटे में, विकट रास्ते में, अपने कंधे पर लादे वेताल को ढोने के क्रम में, राजा थकान और ऊब का अनुभव करते रहे हों। इसीलिये राजा की मानसिक स्थिति को किंचित् स्वस्थ, प्रसन्न और स्वाभाविक रखने के लिये ऐसी रोचक कथाएँ कही गयीं हैं। यहाँ कहनेवाला और सुननेवाला दोनों ही विशेष हैं, इसलिए कथाएँ भी विशेष ही हो सकती थी, सामान्य कथाओं से न वेताल को संतोष होता और राजा को।

'सिंहासन-बत्तीसी' और 'वेताल-पचीसी' उस युग की रचनाएँ हैं, जब राजतन्त्र का बोलवाला था। राजतन्त्र में राजा ही सब कुछ होता है। वह सर्वोपरि होता है। वह सबका नियमन करता है। उसका नियमन करनेवाला कोई नहीं होता। कुलगुरु, कुलपुरोहित, मन्त्री, किसी में ऐसा साहस यह

कूबत और साहस नहीं होता कि कभी राजा की जाँच-परख करे? ऐसे में क्या साहित्यकारों रचनाकारों का भी यह दायित्व नहीं होता कि वे राजाओं की समुचित जाँच-परख करे? 'सिंहासन बत्तीसी' में यह कार्य पुतलियाँ करती हैं और 'वेताल-पचीसी' में यह दायित्व वेताल का है। उस युग के कथा-कोविदों ने पुतलियाँ और वेताल जैसे पात्रों की कल्पना कर उनसे यह कार्य कराया है।

राजा में वीरता, धीरता, साहस, प्रजा-जन की इच्छापूर्ति का संकल्प, कठिनाइयों से पार पाने की युक्ति और ऐसे ही आवश्यक गुण और पराक्रम होने चाहिये। 'सिंहासन-बत्तीसी' की बत्तीस पुतलियों ने बत्तीस बार विक्रमादित्य को इस कसौटी पर खरा पाकर उन्हें सिंहासन के योग्य माना है। यही काम 'वेताल-पचीसी' में वेताल करता है। पर वेताल राजा त्रिविक्रम सेन को अधिक घिसता, मांजता और रगड़ता है, वह राजा में धैर्य की कड़ी परीक्षा लेता है, उसे जन-मजदूर की तरह खटा मारता है। राजा हर बार महाशमशान जैसे विकट स्थान में जाकर उसे शीशम के पेड़ पर लटके शव में से निकालता है, कंधे पर लादकर कठिन ऊबड़-खाबड़ रास्ते से चलता हुआ अपने गन्तव्य तक पहुँचता है।

राजा की पीठ पर लदे वेताल को राजा की इस दशा पर दया आ जाती है और वह राजा के श्रमहरण के लिये, चित्त-प्रसादन के लिए एक से एक कहानियाँ कहता है। राजा उसे सुनते रहते हैं। कहानी सुनाकर वेताल अन्त में कहानी से सम्बन्धित प्रश्न पूछता है। राजा के समुचित उत्तर देने पर राजा के कन्धे से खिसककर फिर महाशमशान के उस शीशम वृक्ष पर जा लटकता है। यह क्रम

पचीस बार चलता है। अन्त में, वेताल को दया आ जाती है और वह कहता है- "आप जिसके लिये यह मृत शरीर ढोकर ले जा रहे हैं, वह दुष्ट भिक्षु आज मेरा आवाहन कर पूजा करेगा और बलि-प्रदान की इच्छा से आपसे कहेगा कि भूमि पर लेटकर साष्टांग प्रणाम करें। महाराज! तब आप उस दुष्टात्मा से कहेंगे कि मैं साष्टांग प्रणाम नहीं जानता हूँ। पहले, तुम वैसा करके दिखाओ, तब मैं वैसा करूँगा। उसके बाद जब वह भूमि पर लेटकर आपको प्रणाम करना दिखायेगा, तभी आप खड़ से उसका सिर काट डालेंगे। तदन्तर उस भिक्षु के लिये वांछित विद्याधरों की ऐश्वर्य-सिद्धि आपको ही प्राप्त हो जायगी। अन्यथा, वह भिक्षु आपकी ही बलि देकर अपनी इष्टसिद्धि करेगा।" इस प्रकार वेताल उस भिक्षु के कुचक्र से न केवल राजा को मुक्त करता है, परन्तु उस दुष्ट भिक्षु की मृत्यु का कारण भी बनता है। ऐसे दुष्ट भिक्षुओं और साधुओं ने एक जमाने में जो मंत्रसिद्धि और नरबलि का जो एक भीषण काण्ड-क्रम रच रखा था, वेताल उस परम्परा को समाप्त करता है। इस रूप में 'वेताल-पचीसी' एक सन्देशप्रद कहानी है।

शिवदत्त, शिवदास या जम्भलदत्त लिखित 'वेताल पचीसी' की कुछ अपनी विशेषताएं भी हैं। कथा-कहानियों में साधारणतः रोचक और मनोरम प्रसंग ही मिलते हैं। इनमें कुछ अद्भुत प्रसंग मिल जा सकते हैं, पर भयानक और बीभत्स प्रसंग सामान्यतः नहीं मिलते। हमारे यहाँ नौ रसों में अद्भुत, भयानक और बीभत्स रस की भी गणना होती है। पर ये रस बस यों ही हैं, आज किसी की भी इसमें विशेष रुचि नहीं है। फिल्मों में कुछ हॉरर फिल्में जब-तब बन जाती

हैं, पर वे अपवाद ही होती हैं। मनुष्य भयानक और बीभत्स के साथ नहीं होता। पर 'वेतालपचीसी' की कथाओं में इनके जिन प्रसंगों का भी नियोजन हुआ है। बीभत्स रस की अभिव्यक्ति करता है। पच्चीसवीं कथा का यह वर्णन देखिये- "मण्डल की भूमि लहू से लिपी हुई है और वह मण्डल सफेद हड्डी के चूरे से बनाया गया है। उस मण्डल में लहू से पूर्ण घट रखे हुए हैं और नरमांस भी चरबी के तेल से भरे दिये जल रहे हैं। ... भिक्षु, जिसका सारा शरीर भस्म से लिप्त था, उसके गले में केशों का जनेऊ था और उसने प्रेत (मृत व्यक्ति) के कपड़े पहन रखे थे। उसने शव में वेताल को प्रविष्ट कराकर उसकी विधिवत् पूजा की। पहले उसने उसे नर-कपाल से अर्घ्य दिया। उसके बाद उसने मृत बच्चों के सुनिर्मल नये नर-मुण्डों में फूल अर्पित किये। फिर लहू में सुगन्ध मिलाकर शव के शरीर में लेपन किया। फिर मृत मनुष्य की आँखों की धूप जला दी और नैवेद्य के रूप में नर-मांस निवेदित किया।' ऐसा वर्णन कथा कहानियों के साधारणतः नहीं मिलता। पर एक समय था, जबकि हमारे यहाँ ऐसे घृणित कर्म, तान्त्रिक साधना के नाम पर प्रचलित थे। 'वेताल-पचीसी'कार ने इसका वर्णन कर उसे वाङ्मय में सुरक्षित कर देना शायद आवश्यकता समझी, ताकि भावी पीढ़ियाँ इसे जाने और समझे कि एक समय कितने और कैसे कुकृत्य होते थे।

'वेताल पचीसी' ने इस भिक्षुक का त्रिविक्रम से वध कराकर, एक आवश्यक सामाजिक और मानवीय कार्य सम्पन्न किया। उस कपटी तपस्वी के वध से सभी प्रसन्न हुए। भगवान् शिव ने प्रकट होकर राजा को आशीर्वाद दिया। यहाँ महेश्वर शिव स्पष्ट करते हैं कि अतिशय उग्र

दुराचारी के दमन के लिये ही उन्होंने अपने अंश से राजा विक्रमादित्य की सृष्टि की। इस प्रकार, राजा त्रिविक्रम सेन विक्रमादित्य की परम्परा में ही सिद्ध होते हैं। सच तो यह है कि हमारी वाङ्मय-परम्परा में विक्रमादित्य आदि ऐसे नर-पुंगव हो गये हैं। जिनकी कीर्तिकथा कभी शेष नहीं हुई, उनकी परम्परा में लोग अवतरित होते रहे हैं और उनकी पराक्रम-कथा चलती रही है। 'वेताल-पचीसी' एक ऐसी ही कथा है।

उपसंहार के रूप में वेताल कहता है- ये कथाएँ कामदायिनी हैं। जो भी इसमें अंशमात्र को भी कहेगा, वह तत्क्षण पापमुक्त हो जायगा। जहाँ भी ये कथाएँ वही जायेगी वहाँ यक्ष, राक्षस, डाकिनी, वेताल, कूष्माण्ड, भैरव आदि का प्रभाव न पड़ेगा। अच्छा हुआ कि आचार्य श्रीरंजन सुरिदेव ने 'सिंहासन-बतीसी' के साथ-साथ 'वेताल पचीसी' का सुन्दर अनुवाद हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ करा दिया। हिन्दी जगत् इसके लिये उनका आभार मानेगा।

ऋतंवरा,

पो०+जिला- गोड्डा-814133, (झारखण्ड)



‘पृथ्वीराज रासो’ में देवोपासना- भक्ति के बीज

-युगल किशोर प्रसाद

सभ्यता-संस्कृति के निर्माण व विकास में आज जिस रूप में है, उसका निर्माण भी साहित्य साहित्य और साहित्यकार की भूमिका निर्विवाद एवं साहित्यकारों द्वारा ही हुआ है। सभ्यता-संस्कृति है। चूँकि साहित्यकार भी सामाजिक प्राणी है, जीवन से भिन्न नहीं, वे तो गम्भीर चिन्तन-मनन इसलिए वह से उत्पन्न जीवन के देश-काल, परिस्थिति मूलभूत तत्त्व हैं, -परिवेश से अलग जिसकी अनदेखी कुछ नहीं लिखता। भूगोल और इतिहास, करना किसी युग के दोनों ही उसकी साहित्य या रचना-परिधि में समाहित-सन्निविष्ट साहित्यकार द्वारा सम्भव नहीं। होते हैं। साहित्य में भारतीय संस्कृति सदाचार, सम्यक् चूँकि जीवन आहार-विहार पर प्रतिबिम्बित होता है, बल देती है। इसलिए देश-काल व धर्म-अर्थात् जीवन समाज की स्वस्थ्य के धारक-तत्त्वों से परम्पराएँ, रीति-रिवाज, इस संस्कृति का आचार-व्यवहार सब स्पष्ट प्रतिबिम्बित होते निर्माण हुआ है। हैं। चाहे ग्रीस की प्राचीन सभ्यता-संस्कृति हो या भावत-महापुण्य में एक श्लोक आया

चन्द्रबरदायी-कृत पृथ्वीराज-रासो वीर-गाथाकाल की प्रसिद्ध कृति है। इसका अंगीरस वीर है, जहाँ अभीष्ट-सिद्धि के लिए तलवारें खनकती हैं। किन्तु, वहाँ भी प्रसंगवश देवाराधन हुआ है। क्या यह इस बात का व्यंजक है कि लौकिक एवं पौरुष-साधन और देवाराधन एक दूसरे के विरोधी नहीं, साधक हैं। वस्तुतः, हमारी संस्कृति ही देवाराधन से इस प्रकार घुल-मिल गयी है कि हर परिस्थिति में देव हमारे साथ होते हैं। भारतीय जन-जीवन की इस प्रवृत्ति पर विवचेन करते हुए ‘रासो’ में भक्ति-भावना पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। - सं०

पाश्चात्य-पौरस्त्य सभ्यता-संस्कृति, उनके निर्माण में साहित्य और साहित्यकार की भूमिका अहम् है।

भारत देश की सभ्यता-संस्कृति वैदिक औपनिषदिक एवं पौराणिक काल से गुजरते हुए

जुगप्सितं धर्मकृतेऽनु शासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो-
र्न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥’

(श्रीमद्भागवत :1/5/15)

नारदजी उक्त श्लोक द्वारा महाभाग व्यासजी को समझाते हैं- “संसारी लोग स्वभाव से ही विषयों में फँसे हुए हैं। धर्म के नाम पर आपने उन्हें निन्दित पशुहिंसायुक्त सकाम कर्म करने की भी आज्ञा दे दी है। यह बहुत ही उल्टी बात हुई; क्योंकि मूर्ख लोग आपके वचनों से पूर्वोक्त निन्दित कर्म को ही धर्म मानकर- “यही मुख्य धर्म है” ऐसा निश्चय करके उसके निषेध करनेवाले वचनों को ठीक नहीं मानते हैं।

अतः नारदजी ने व्यासदेव से भक्तिपरक रचना करने का सुझाव दिया-

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः

समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।

आख्याहि दुःखैर्मुहुर्दितात्मनां

संक्लेशनिर्वाणमुशान्तिं नान्ययो॥

(भागवत : १/५/४०)

“हे व्यासजी! आपका ज्ञान पूर्ण है, आप भगवान् की ही कीर्ति का उनकी प्रेममयी लीला का वर्णन कीजिए। उसी से बड़े-बड़े ज्ञानियों की भी जिज्ञासा पूर्ण होती है। जो लोग दुःखों के द्वारा बार-बार रौंदे जा रहे हैं। उनके दुःख की शान्ति, इसी से हो सकती है और कोई उपाय नहीं है।

चूँकि “वर निर्मल ज्ञान” यदि भगवान् की भक्ति से रहित हो, तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। साथ ही, वह काम्यकर्म, जो भगवान् को अर्पण नहीं किया गया है, अमंगल रूप है।

अर्थात्, कोई काव्य या ज्ञानमूलक साहित्य भक्ति-भावना, देव-आराधना के बिना अपूर्ण है। कदाचित् इसी से प्रेरणा ग्रहण कर महाकवियों ने अपने काव्य की निर्विघ्न समाप्ति किंवा पूर्णता के लिए ईश-वंदना की। प्रायः हर युग के श्रेष्ठ रचनाकारों ने इस पावन परम्परा का पालन किया है। आधुनिक युग के कवियों में निराला हों या

दिनकर, पन्त हों या महादेवी, उनके काव्य में भक्ति का रूप किसी न किसी रूप में अवश्य व्यंजित हुआ है।’ और ऐसा, रचनाकारों द्वारा अकारण नहीं किया गया है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार धर्म है और साहित्य में उस धर्म की अभिव्यक्ति हर महान् कवि की अनिवार्यता है। वैदिक ऋचाओं में धर्म, ईश्वर, परमात्मा, जीवात्मा की, देवताओं में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों का स्तुतिगान उपलब्ध है। ऋग्वेद की एक ऋचा के अनुसार परमात्मा प्रियतम अतिथि, घनिष्ठतम मित्र हैं-

प्रेष्ठतः अतिथिं स्तुवे मित्रं प्रियंम्। 8।।84।।

परमात्मा जीवात्मा का प्रेमी और पति बन जाता है-

पतिदेव जायाममति नान्येतु

धर्तादिवः सविता विश्ववारः।

अर्थात्, पति जिस प्रकार अपनी पत्नी को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आकाश को धारण करनेवाला सबसे वरण करने योग्य जगत् का उत्पादक प्रभु हमें उक्त सब प्रकारों से प्राप्त हो। अन्ततः एक गाढ़-गहन आलिङ्गन में अद्वैत हो जाता है- त्वमस्माकं तवास्म्यहम् तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं। इस अद्वैत-भावना को कविगण अपनी रचनाओं में वाणी देते आए हैं। रचनाओं के नायक-नायिका भगवदवतारी या शक्ति के अवतार न भी हों, कोई राजा या अन्य उदात्त चरितवाला, कर्मशील मानव-मानवी ही काव्य-नायक क्यों न हो, कवि द्वारा देवी-देवताओं का, ईश्वर या पराशक्ति का स्मरण-वन्दन परम्परा के अनुपालक होने के साथ-साथ परा-शक्ति की स्वीकृति का भी संसूचक है। एक बड़ा कारण यह भी है कि काव्य-शक्ति, जीवन-ऊर्जा

पराशक्ति से उद्भूत मानी गयी है। गोस्वामीजी लिखते हैं-

‘जा पर कृपा करहिं जन जानी,
कवि उर अजिर नचावहीं बानी।।’

इसलिए भक्तिकाव्य हो या वीरगाथा काव्य, रीतिकालीन शृंगार काव्य हो या छायावादी या प्रगतिवादी काव्य, यानी प्राचीन-अर्वाचीन हर युग के साहित्य में उपासना के, भक्ति के तत्त्व मिलते हैं, रण में जाने के पूर्व देवी-देवताओं के आह्वान की चर्चा मिलती है।

अपने देश में महाकाव्य-रचना की प्राचीन परम्परा रही है। यह अलग बात है कि उस समय रचना की भाषा संस्कृत थी। व्यास से लेकर कालिदास तक संस्कृत भाषा में प्रभूत काव्य-रचना हुई। महामना वाल्मीकि की रामायण संस्कृत भाषा में रचित है, व्यासजी ने संस्कृत भाषा में महाभारत महाकाव्य की रचना की। कालिदास ने ललित संस्कृत में ‘रघुवंशम्’ महाकाव्य रचा। किन्तु आगे चलकर संस्कृत की जगह प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट भाषा में काव्य रचे गये। उन भाषाओं का विकसित रूप आज की हिन्दी भाषा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बारहवीं सदी को हिन्दी काव्य-यात्रा का आरंभिक काल मानते हैं, किन्तु महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने बारहवीं सदी के वीरगाथाकालीन ‘रासो काव्यों’ एवं ‘आल्हा खण्ड’ जैसी रचनाओं के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व ‘सिद्धकाल’ का होना प्रमाणित किया है। राहुलजी ने अपनी खोज में आचार्य धर्मकीर्ति की श्रेष्ठ रचना ‘प्रमाणवार्तिक’ और सिद्ध सरहपा (सं. 680) के ‘दोहा कोष’ की चर्चा की है। शुक्लजी ने जिस वीरगाथाकाल को कविता के विकास का आरंभिक दौर बतलाया था, राहुलजी की खोज से उनकी स्थापना संदेहास्पद हो गयी है।

जो भी हो, शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य के विकास का काल-विभाजन उन काल-खण्डों में रचित काव्यों की मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर किया था तथा उन काल-खण्डों को आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल की संज्ञा दी। आदिकाल में वीरगाथात्मक कृतियों- ‘पृथ्वीराज रासो’, ‘हम्मीर रासो’, ‘परमाल रासो’ ‘विजयपाल रासो’, ‘बीसलदेव रासो’ एवं ‘आल्हा-खंड’ इत्यादि की प्रमुखता रही।

अपना अभीष्ट उक्त ‘रासो काव्यों’ में ‘पृथ्वीराज रासो’ में भक्ति के बीज, देवाराधन के प्रसंगों की पहचान करना है। वैसे भी तमाम ‘रासो काव्यों’ में ‘पृथ्वीराज रासो’ सर्वप्रमुख काव्यकृति के रूप में मान्य है। इस ‘रासो’ के रचयिता महाकवि चंदबरदाई हैं, जिन्होंने बड़ी ही ओजपूर्ण शैली में काव्य-नायक पृथ्वीराज चौहान की अप्रतिम वीरता का बखान किया है। उनका ‘रासो’ राष्ट्रीय-गौरव-ग्रन्थ है और वीररस का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव उसे प्राप्त है।

महाकवि चंदबरदाई की हुंकार है-

‘बरस अठारह छत्री जिऐ।

आगे जीवन के धिक्कारा।।’

इस प्रकार की पंक्तियाँ ‘रासो’ की ओजगुण-सम्पन्नता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। ‘मत चूको चौहान’ तो लोकोक्ति बन चुकी है। इस काल-खण्ड की कविताओं में राष्ट्रीयता से अधिक कवियों का ध्यान अपने नायक के प्रशस्ति-गायन पर रहा।

महाकवि चंदबरदाई विरचित ‘पृथ्वीराज रासो’ अपभ्रंश भाषा में रचित सबसे महत्त्वपूर्ण वीरगाथा काव्य है। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज चौहान द्वारा हुसेन पर आक्रमण का प्रसंग आया है। हुसेन मुहम्मद गोरी का सामन्त है। जयचन्द

मुहम्मद गोरी से पृथ्वीराज चौहान पर आक्रमण करने का अनुरोध करता है। गोरी जयचंद के आग्रह पर हुसेन को पृथ्वीराज के विरोध में खड़ा करता है। इसके प्रत्युत्तर में पृथ्वीराज द्वारा हुसेन पर आक्रमण किया जाता है। हुसेन पर आक्रमण के पूर्व पृथ्वीराज द्वारा देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है। वह स्तुति 'गाथा-छन्द' में प्रस्तुत हुयी है। यथा-

मनसा धारि विरचां दक्षिण पता अंगुरी नषयां
संभूमेन नरिदे। सत जुगं आदि कीन पैदासां।

यहाँ ब्रह्मा और 'शिव-संभू' का स्मरण लक्षित है।

चंदबरदाई भाषा-सिद्ध महाकवि थे, इसलिए उन्होंने स्तुति-गान के लिए अलग-अलग छंदों का प्रयोग किया था। उक्त 'गाथा छंद' के अलावा निम्नांकित 'कविता छंद' में भी स्तुति-गायन का उदाहरण 'रासो' में उपलब्ध है-

'संभू मन वरदान। लियौ तब जोर ब्रह्म पहि॥
लरन रषि वसुमती। होत कलपन्त काल महि॥
नारद धरत बताई। मच्छ रूप जगीसं।
दस हजार जोजने। शृंग रचि अरध सीसं॥
करि सन्त नाव तिहि पर धरो अन्के पित जियगैन धुजा॥
ऐसेक चंद कहि पीप सम यरू अतंन नृप आग हुए॥'

यह प्रसंग 'पृथ्वीराज रासो', बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी, के प्रथम संस्करण के पृ० सं. 33 में उपलब्ध है। उक्त छन्द में 'संभू', नारद एवं मत्स्यावतार का स्मरण-वंदन प्रस्तुत हुआ है। जल-प्रलय के समय भगवान् का मत्स्यरूप धारण कर दस हजार जोजन वाले शृंग से नौका के बंधे होने के मिथक का अर्थगर्भ प्रयोग चंदबरदाई द्वारा हुआ है।

पुनः शहाबुद्दीन गोरी से पृथ्वीराज का बार-बार युद्ध होता है। गोरी के साथ युद्ध करने

के क्रम में पृथ्वीराज द्वारा 'पद्धरी' छन्द में प्रार्थना का उदाहरण निम्नवत् है-

आये सुताम गुर राज ।
पहि पत मंत्र बोलि साज ॥
ग्रह नव सुदान विधि विद्धरीन।
वेदन्त विप्र अभिषेक कीन ॥
चव ससह हेम दिख विप्र दान।
अस्सेष वेद तय साम गान ॥

यहाँ नवग्रह पूजा और वेद-पारंगत ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रपूत जल से राजा का अभिषेक वर्णित है। राजा द्वारा ब्राह्मणों को स्वर्णदान भी दिया गया।

पुनः

जय नया जीह जंपी सु आन।

मंगल सवाद चव पछि गान।

आसिष्य वयन चहुआन रान।

गुरु राम जज्जि आहुन्त श्रान॥

यहाँ युद्ध पर जानेवाले राजा के लिए मंगलपाठ वर्णित है।

अब 'त्रिभंगी' छन्द में प्रस्तुत वन्दना का उदाहरण देखिए-

सयनं सब्दानं, किय सज्जानं,

बज्जि नही हनीसानं॥

बंधे सिलहानं, निज निज

थानं पष्वरि पानं, असगानं॥

निज किय तं न्हानं, दीनं सुदानं,

सेव समानं, हंसानं॥

मने विष्णानं, चण्डी साने,

आसिष्वानं, जम्बानं।

तुलसी तिन मंजरि, चक्र तनै धरि,

हरि चरनां चारि जल सारे॥

गिलकी सत कंतरि,

कृष्ण उरे धरि सांज सवं करि जूम्दारं॥

(पृथ्वीराज रासो, प्रकाशक, बंगाल एशियाटिक सोसइटी, प्रथम संस्करण, पृ. सं. 42)

उक्त छन्द में युद्ध 'पयान' (प्रयाण) के पूर्व राजा का स्नान, गरीबों को दान, भगवती चण्डी का आवाहन-स्मरण, तुलसी की मंजरी का चक्रधारी श्रीहरि के पद पर अर्पण तथा श्रीकृष्ण का स्मरण वर्णित है।

स्पष्ट है कि 'पृथ्वीराज रासो' में देवाराधन-भक्ति के बीज उपलब्ध है। कृतिकार द्वारा ग्रन्थ के आरम्भ में गणेश वन्दना के साथ प्रकृति की भी वन्दना की गई है। वीर हनुमान् का स्मरण-प्रसंग भी 'रासो' में उपलब्ध है।

पूर्ववर्ती संस्कृत भाषा में रचित काव्यों में भी संकट की घड़ियों में ईश-स्मरण, युद्धकाल में देवी-देवताओं के आवाहन-पूजन के उदाहरण उपलब्ध हैं। 'रामायण' में श्रीराम द्वारा शम्भु-पूजन, 'महाभारत' ग्रन्थ में अर्जुन द्वारा युद्ध के मैदान-कुरुक्षेत्र में सारथी कृष्ण की सलाह पर भगवती दुर्गा के आवाहन-पूजन के प्रमाण उपलब्ध है।

परवर्ती कवियों द्वारा उस पुनीत परम्परा का पालन किया गया। 'पृथ्वीराज रासो' से कतिपय उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

वस्तुतः देवाराधन हम भारतीयों का जीवन-संस्कार बन चुका है। पराशक्ति में हमारी दृढ़ आस्था एवं अखण्ड विश्वास है। ईश्वर दुःख-भंजक तो ही है, जीवन-संग्राम में विजय-प्रदाता है। देश के मुसलमान भी लड़ाई-भिड़ाई के दौरान 'या अली', अल्लाह हो अकबर' का जयघोष करते हैं। हिन्दु धर्मावलम्बी 'जय बरजंगबली', 'हर हर महादेव' का उद्घोष करते हैं। साक्षर-निरक्षर, पंडित-अज्ञानी-सबकी संकट की घड़ी में ईश्वर याद आते हैं। आल्हा

भी युद्ध में जाने के पूर्व माँ दुर्गा की आराधना करते थे। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के अमर सेनानी पूज्य बापू भी 'ईश्वर-अल्लाह' से सबको सन्मति देने की प्रार्थना करते थे।

तात्पर्य यह कि जीवन की अभिव्यक्ति और अभिव्यंजना देने की प्रार्थना करते थे। गुण से संयुक्त तो होता ही है, व्यक्तित्व के उन्नयन और विकास, चेतना के परिष्कार के लिए उसमें 'धर्मार्थ गुण' भी होना चाहिए। कहा भी गया है कि काव्य 'कामार्थगुण-संयुक्त एवं धर्मार्थ-गुण सविस्तर' होता है। पुनः काव्य के प्रभाव-विस्तार के लिए कवि को लोक-आस्था, लोक-विश्वास, लोक-श्रद्धा के कारक तत्वों को स्थान देने की अनिवार्यता है और भारतीय लोक-जीवन देवी-देवताओं व धर्म के प्रति आस्थावान् है।

पुनः, राजा, पुरोहित, प्रकृति और ईश्वर के स्थान को सुरक्षित रखते हुए उस समय रचना (काव्य-रचना) स्वरूप ग्रहण कर सकती थी। उस अनिवार्यता से कोई रचनाकर कैसे बच सकता था? इसलिए तद्युगीन काव्यों में जन-आस्था के मद्देनजर देवी-देवताओं को स्थान देना कवि और काव्य की सफलता का मापदण्ड था। रासो-काव्य उस युग की सफल-रचना आज भी मानी जाती है और महाकवि चंदबरदाई ने तो अपने महाकाव्य में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के साथ-साथ लोक-आस्था जन-विश्वास को सारस्वत वाणी प्रदान की है।

'साधना-कुटीर' मुरगावाँ
भाया- परवलपुर
जिला- नालन्दा (बिहार)



ललित-निबन्ध

श्रीकृष्णक्रान्ति

ॐ गंगापीताम्बर शर्मा 'श्यामहृदय'

श्रीकृष्णक्रान्ति का द्वितीय अध्याय था मुसकान भरे- अधरों पर हरित बाँस की बाँसुरी का स्पर्श। बाँसुरी और वंशीधर एक दूजे के लिए बिक चुके थे। भला कौन कवि उस अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की समीक्षा करे। इस प्रकार की क्रान्ति दर्शकों को भ्रान्ति में डालती गयी। सूफी महात्मा तो उन इतिवृत्तियों पर दीवाने हो झूमने लगे। आत्मविभोर सन्तों पर श्रीकृष्ण का कटाक्ष बाँकी पूरा किया। रहिमान ने अपनी सुधि खो ली। नयी सनक सवार हुई- खेत में, खलिहानों में, कुंज-निकुंज- वितानों में, विचरते चौगानों में, गुनगुनाते गानों में तथा

कण्टकित-निष्कण्टकित पथ पर तानों में- बस एक धुन 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' अनवरत चलता रहता। बस, एक देव श्रीकृष्ण, एक शास्त्र देवकीपुत्रगीत, एक महामन्त्र 'हरे कृष्ण' और एक ही काम उनकी सेवा। निर्धनतम पूजारी की महानतम पूजा और श्रेयस्करतर फल उनकी सहज

अनुकम्पा। वह मानस-पूजा। वह अविरल-भक्ति, दूते चित्ते प्रहृष्टा गोविन्दाकारिता भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः। बस- कोरा आत्मसात्।

वह कन्हैया भी अपने प्राण समान प्रिय भक्त पर झलक देते, पर पलक खुलता नहीं। बेचारे भारतेन्दुजी से नहीं रहा गया। उद्गार साक्षात् हो ही गया। इन मुसलमान हरिजन पै कोटि हिन्दु न वारिए। अर्थात् इन मुस्लमान भक्त रहीम पर कोटि हिन्दु बलि-बलि जाय। रहिमान साहब ने श्रीकृष्ण की बाललीला के समय के परिधान का वर्णन यों किया। उन्होंने मनोवाञ्छित ढंग से

अनुश्रवणीय महापुरुष श्रीकृष्ण की ललित-लीला प्राचीन काल से कवियों और सहृदय सामाजिकों का मन मोहती रही है। भागवतकार ने भी कृष्ण की मुरली की तान सुनी, जयदेव ने भी इसे गीतों में बाँधा, सूरदास, कृष्णदास आदि भी इस लहरी पर उतराते रहे। मध्यकाल में मुसलमान सन्तों और कवियों ने भी कृष्ण की मधुमयी लीला के रस में डुबकियाँ लगायी।

वयोवृद्ध चिन्तक एवं कविहृदय की लेखनी से यह ललित-निबन्ध यहाँ प्रस्तुत है, जिसमें मुसलमान कवियों द्वारा प्रस्तुत कृष्ण-भक्ति ललित शैली में निबद्ध की गयी है। -सं०

साक्षात्कार कर मनोवाञ्छित ढंग से सजोया-

काछिनी काछे कलित मुरलीकर
पीत पिछौरी साल की,
बंक तिलक केशर कौ कीने
दुति मनो विधु बाल की।
आप मोल विन मोलनि डोलनि
बोलनि मदन गोपाल की,

‘श्यामहृदय’ अस हरिजन के शतवार

नमन प्रति पालन की।

अब देखिए रसखान को। एक रस का रसिक अपनी उपासना में कुशल होता है, पर जो सभी रसों का स्वामी जैसा रसखान ही कहलाए उनकी दक्षता का क्या उल्लेख! पर उनकी आत्मा रस-श्रेष्ठ शृंगार के देवता श्रीकृष्ण का बालस्वरूप अतिशय प्रिय रहा है। प्रियदर्शन छवि ले गोपीनाथ उनके अन्तरंग प्रदेश के अधिष्ठाता लगते हैं। मन-मन्दिर के भगवान् वहीं हैं। अपना सुनाने के लिए सूरदास के हाथ पकड़ रुक जाने का संकेत कर आगे बढ़ कहते हैं-

छूरि धरे अति शोभित श्याम जू

तैसी बनी सिर सुन्दर जोटी,

खेलत खात फिरे अँगना पद

पैननि बाजत पीरीक छोटी।

वा छवि को ‘रसखान’ विलोकत

आरत काम कलाविधि कोटी,

काग के भाग कहां कहिये हरि

हाथ से लै गयो माखन रोटी॥

जीवन की सार्थकता भजनानन्द में है। प्रत्येक योनि जन्मजात का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष लक्ष्य है। रसखान इस सन्दर्भ में अभिव्यक्त करते हैं:-

मानुस हैं तो वही रसखानि

बसौ व्रज गोकुल गांव के ग्वारन,

जौ पशु हौ तो कहा वसु मेरो

चरौ नित नन्द के धेनु मझारन।

पाहन हैं तो वही कौ जो

धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन,

जौ खग हौ तो बसेर करौ मिलि

कालिन्दी कूल कदम्ब के डारन॥

कैसा विमल भाव, कैसी पवित्र आत्मा, भक्ति रसामृत का कैसा अनुपम स्वाद। “सर्वतो मधुरातिमधुरम्।” “मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः” परिप्लुत चिन्तनधारा!!

श्रीमान् तानसाहब को ब्रजराज छोड़ अन्य कोई सुहाते नहीं। भला शिकंजी से शक्कर कैसे निकाल जाय। तानसाहब ने अपने ब्रजराज नटराज को सजे-धजे हृदय की कर्णिका पर श्यामसुन्दर को प्रतिष्ठित किया, तो श्रीकृष्ण ने उन्हें अपनी आँख और पलकों के बीच रखा। दोनों प्रयत्नशील रहे- ‘पायो नाम चार, चिन्तामणि उर करते न।

त्रिभुवन सुन्दर श्रीकृष्ण के किशोर वयस का चित्ताकर्षक वर्णन किया। बड़े लचीले भाव से। लालित्य को मूर्त कर दिया।

वाह, वाह छैल छबीला, सब रंग में रंगीला,
बड़े चित्त का अड़िला, कहुँ देवतों में न्यारा है,
माल गले सोहे, नाक मोती सेत जो है
कान कुण्डल मन मोहे, लाल मुकुट हार धारे।
दुष्ट जन मारे, सब सन्त को उबारे,
ताज चित्र में निहारे, प्रेम प्रीति करन हारा है।
नन्दजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावन वारा कृष्ण साहब हमारा है।

कैसी है वह अनुपम भक्ति, कितनी है भाव प्रगाढ़ता! यह कहना कठिन है कि श्रीकृष्ण-भक्ति-भागीरथी में कौन किस प्रकार निमज्जन कर रहे हैं। अविरल अजस्रधारा तो रुकती नहीं। बेचारे नजीर की भावधारा बेनजीर जैसे वावरी बन उसी ओर चल पड़ी। भावधारा की चंचल उर्मियाँ लोकोत्तरानन्द वर्षण करती गई। चकोर की ललचाई आँखें चन्द्रमा पर ही तो पड़ती है, तो फिर बेचारे नजीर भी और परवानों की भाँति शमाँ की ओर ढल पड़ते हैं। शमाँ श्री श्याम सुन्दर एक, अकेले और अनन्त परवाने समाहित होते गए। दैवी कृपापूर्ण चाकचिक्य से ओतप्रोत, ललित-ललाम शोभा-धाम, कोटिकन्दर्प-नयनाभिराम की ओर आत्मविभोर नजीर साहब चल पड़े। खड़े-खड़े उस त्रिभंगीरूप मनमोहन की झाँकी दर्शन से अतृप्त आँखें तृप्त करते इंगित करते हुए उपालम्भ आरम्भ किया-

यारो सुना ये दधि के लुटैया का
बालापन को मधुपुरी के बसैया का
कालापन मोहन रूप नृत्य करैया का,
बालापन ऐसे बांसुरी के बजैया का
बालापन बन गलाल गौवें चरैया का
बालापन मैं क्या-क्या कहूँ कन्हैया का
बालापन सब मिल के यारो
कृष्ण मुरारी की जय बोलो, जय दधि चोर
गोपीनाथ बिहारी की बोलो,
जय तुम भी नजीर
कृष्ण मुरारी की जै बोलो।

भाव-भंगिमा का अन्त नही, श्रीकृष्ण-
कृपा-सरोवर के कृति-कांवर ढोनेवाले रसिक
भक्त आदिल साहब तो ब्रजमोहन को भी मोह
लिया, चितचोर का भी चित्त चुरा लिया। 'जात
पात पूछे नहि कोई, हरि को भजे से हरि के होई।'
'लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गयी लाल।'
देखिए, आदिल साहब की ढिठाई। अटपटी वाणी
में 'रे, तुम और आप' में भेद क्या- अभिन्नता
है। ऐसा लगता है- आदिल साहब ने अपनी
प्रगाढ़ भक्तिभुलैया में भगवान को भ्रमित कर
दिया है- चन्द्र-चन्द्रिका तथा रवि-रश्मि का
सम्बन्ध भक्त और भगवान् में है। कमलदल-
लोचन कहो या घपोचन कहो- पर्यायवाची जैसा
एक अर्थ, एक आशय कहते हैं-

मुकुट की चटक लटक बिम्ब कुण्डल की,
भौंह की भटक नेकु अंखिन देखाउ रे ।
ऐ रे वनवारी बलिहारी जाऊँ तेरी मेरी,
गैलकिन आउ नेकु गायन चराउ रे ॥
आदिल सुजान रूप गुन के निधान कान्ह,
बांसुरी बजाय ताप तपन बुझाउ रे ।
नन्द के किशोर चित चोर मोर पंखराई,
बंशी वारे सांवरे, पियोर इत आउरे ॥

भक्ति के बल भगवान् को वश किए को
भक्त कहा गया है- भगवान के वश में। पुनः

अपना मान भले टल जावे

जन का मान न टलते देखा।

कैसी है उस कृपा-परवश की भक्त
वत्सलता, यह भी है कोमल क्रान्ति की, प्रथम
अवस्था। भक्त के हाथ बिके भगवान् दोनों में
किसी को अपनी सुधि नहीं। अब तक वाहिद
साहब टकटकी लगाए कदम्ब तले त्रिभंगी रूप से
कमल-कोमल-कर में मुरली लिए 'कांधा', 'राधा'
की टेर लगाए हुए है। मुसकान भरी चितवन तो
अमोघ छू-मन्तर है। उसी पर वाहिद साहब काटों
में उलझी-गुलाब की पंखुडियों के समान उलझ
गये। इसे नयनसुख के लोभ में बावरापन भी
कहा जा सकता है। कुछ गुनगुनाते कहते हैं।

सुन्दर सुजान पर मन्द मुसकान पर

बांसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहे,

सुरित विशाल पर, कंचन की माल पर

खंजन की चाल पर, खौरन खगी रहे।

भौंह धनु मैन पर, लोने युग नैन पर

सुहद रस बैन पर, वाहिद पगी रहे,

चंचल वा तब पर सांवरे बदन पर

नन्द के नन्दन पर लगन लगी रहे।

क्या भगवान् भाव और प्रेम के भूखे और
भिखारी है कि जो जैसे चाहे मनोवांछित स्वरूप
से तृप्त-मानस हो जाय। आश्चर्य और विस्मय! शायद
पृथ्वी पर बोये गये भिन्न-भिन्न प्रभेदों के बीज
अनुकूल तरु पाकर खट्टे, मीठे, कषाय, तिक्त
तथा कड़वा हो जाते हैं। भगवान् भी भावना-भक्त
हो जाते हैं। एक ही कृष्ण सखा, मित्र, माता
पिता, शत्रु, योगी, यति, भक्त के लिए भिन्न-भिन्न
प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। इनमें आकर्षण, विकर्षण
दोनों शक्तियाँ जुड़ी हुई हैं। एक ही व्यक्ति भी

भिन्न-भिन्न व्यवहार या नाता से भिन्न-भिन्न दीखता है।

अब नफीस खलीली का जानिए- भिन्न भिन्न अंग, भिन्न भिन्न विशेषता-

कन्हैया की आँखे हिरण सी नशीली,

कन्हैया की शोखी कली सी रसीली।

कन्हैया की छवि दिल उड़ा देनेवाली,

कन्हैया की सूरत लुभ देने वाली॥

कारे खां का शब्दजाल श्रीनन्दलालजी को आक्रान्त कर दिया है, निपटना दुष्कर है। झाँकीदर्शन के वर्णन में एक अद्भुत कला-कौशल के कुशल प्राणी है। विकलता विह्वलता के संवेदना-सागर में डूबते उबरते हैं।

वृन्दावन कीरति विनोद कुंज कुंजन में,
आनन्द के कन्द लाल मूरति गोपाल की,
काली दह कारे पाताल पैठि नाग नाथ्यो,
केतकी के फूल तोरि लाए माल हार की।
परसत ही पूतना परम गति पाय गई
पलक ही पार परयो अजामिलवार को
छबि गुणा गान हार छछ के उगाहनहार
आई न अहीर क्या हमारी बार बार की।

मौजदीन साहब के विरह में व्याकुल वृन्दावन की गलियों में, कुंज-निकुंजों में, कन्हैया को ढूँढ निकाला। इस आरोप पर कि भला फागुन में भी कोई ऐसे छुप-छुप कर तड़फाता है। इस आरोप की सफाई या साक्षात्कार और दण्ड था कारण बताता और-

मोहि गुलाल लाल विन

तेरे भई है रैन अँधियारी

अँसुवन के अब रंग

बने हैं नैन बनी पिचकारी॥

वृन्दावन के कुंज गलिन में ढूँढत हारी
देहो दरस मोहि अपनी मौज से ऐ हौं कृष्ण मुरारी॥

यदि मौजदीन साहब ने अवनी से अम्बर तक कुंकुम गुलाल भरे वायुमण्डल में फाल्गुनी त्योहार के उछाह में लाख बुलाने पर भी नहीं आने का आरोप लगाया, तो भला मकसूद साहब ने श्रावण भाद्रपद के इत-उत तैरते हुए कज्जली के पहाड़ समान काले-काले बादलों के बीच कौंधती हुए विद्युत् भरी काल की भयावनी रात से निर्भय करनेवाले श्यामले सलौने का रीमझिम मास के आनन्द से वंचित करने का आरोप लगाया, उन्हीं के न्यायालय में अभियुक्त प्रमाणित किया- श्यामले सलौने श्याम सुन्दर का पावस सुख छीनने का मुकदमा किया-

लगा भादो मुझे दुःख देने सारी

घटा चहुँ ओर झूक आई है सारे

भरी जल बल चढ़ी नदियों की

घोर सोख अब तक न आए पी हमारे।

घटा कारी अँधेरी नित डरावे

पिया बिना नींद विरहिन को न आवे,

अरे कागा, तू उड़ के जा विदेश

श्याम सलौने को लेकर सदेसा पावे॥

श्रावण मास की झमझमाती रसवन्ती और बसन्त की अर्द्धरात्रि अथवा निशीथ काल में कोकिल-काकली अर्थात् पी-पी का निरन्तर रटन किसी पति-वियोगाग्नि-विदग्धा विरहिणी के लिये दारुण अर्न्तव्यथा सताती है। इसी उद्दीपन की स्थिति में बेचारे अफसोस साहब को परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के वियोग का अफसोस होता है। कर्त्ता अफसोस की, क्रिया अफसोस और कर्म को असन्तोष। कितना अनुपम मेल। कर्त्ता को छविकोष नन्दनन्दन नवल-किशोर की याद सतायी। उनका कथन है- मूक मधुर का स्वाद जितना है, पर व्यक्त नहीं कर सकता प्रेमिका का प्रेमी के प्रति विरह-संवेदना समूर्त कैसे हो। विरहीन की गति विरहीन जाने।

विरह में कल न परत पल
छिनहुँ व्याकुल सखियाँ सारी रहत,
निस दिन कृष्ण मिलन को
सखियाँ आश लगात ढाढ़ी रहता
अफसोस पिया की नेह सुरतिया
निरखत नर ओ नारी रहत,
'श्यामहृदय' मधुसूदन स्वामी,
जो अपना सपना का कहता।

आदमी वर्ण, जाति, धन, चाकचिक्य से महान् या बड़ा नहीं होता है, कर्म, गुण और आचार से बड़ा होता है। श्रीकृष्ण ने तो काले वर्ण के, कारा में जन्म लेकर शिशु से किशोर तक अपने अवतारवाद से जगत् को जगमगा दिया। दस हजार हाथी का बलवाला कंस ठिकाने लगा। काजी अशरफ महमूद साहब सोच ही रहे हैं- 'हमारा कन्हैया तो इतना कठोर नहीं कि कोई उसे प्यार-प्रेम से बुलावे और वह नहीं आवे। अगर वह इधर नहीं आया, तो भादो में आएगा जरूर। भादो के कृष्णपक्ष की अष्टमी उसे बड़ी प्यारी है- आधा अन्धेरा, आधा उजेरा। भगवान् कृष्ण के दर्शन, स्पर्श, श्रवण, भाषण, सम्भाषण कल्पनातीत आनन्दवर्षक है। नानाविध घनीभूत कल्पना में मुग्ध है, झूम रहे हैं। मानस-मन्दिर में वह मनमोहन सस्मित-विग्रह में विराजमान हैं। मन-मोर थिरक-थिरककर नाच रहा है। कल्पना साकार हुई। मनोवांछित झांकी-दर्शन, कहा कितना उतावले होकर-

मेरे प्राण भुलावन आए, मेरे प्राण लुभावन आए।
अचल कमल कर मुरली अधर धर वंशी बजावे
आए हो हो, वंशी बजावन आए।

मेरे प्राण भुलावन आए मेरे प्राण लुभावन आए।

अन्यान्य भक्ति-धनीभूत सन्तों में इन्शा
वाजिद फरहत लतीफ हुसेन, सैयद कासिम अली,
शे करीम वख्त, बुल्ले साह, दीन दरवेश, काजिम

खालस, वहजन मंसूर, यकरंग कायम, निजामुद्दीन
औलिया आदि हैं। सूफी सन्त मदीन निष्ठा से
भिन्न है ही।

मुहम्मद जायसी का हृदय तो नवनीत के
समान कोमल है और चन्द्र-ज्योत्स्ना-मण्डित धरा
सा सुहावन मनभावन है। श्रीकृष्ण उनके प्राण हैं।
ये सौन्दर्य शृंगार और प्रेमरस के अनोखे पारखी
हैं। इन सरीखे सन्त मुसलमान या इनके वंशज
सच्चे भारतनिष्ठ और कुशल नागरिक हैं। ऐसे
ऐसे भागवत भारत के लिए गौरव की विभूतियाँ
हैं। एक तो धर्मप्राण भारत देश और ऐसे सन्त
भारत के चार चाँद हैं। इन्हीं की कोई वंशावली
इन्हीं की परम्परा और संकल्पों के महलों को
ध्वस्त कर रही है। कृष्ण पर समर्पित जीवन
श्रीकृष्ण के रूप गुण, लावण्य पर विमोहित है,
पूर्वजों का किया कराया किरकिरा कर रहे हैं।
सच्ची भारतीयता के कोरे प्रतिकूल।

आज भी इन्हीं मुसलमानों की गूदरी के
लाल प्राचार्य रसीद अब्दूल वाजिद का कहना है-
मैं अपने आपको हिन्दु कहने में गर्व का अनुभव
करता हूँ। वास्तव में भारतीय और हिन्दु शब्द
एक दूसरे के पर्याय है। हिन्दुत्व ही भारतीयता
है। प्रत्येक भारतीय के लिए यहाँ की मूल चिन्तन
धारा में समाहित होना राष्ट्रीय अस्मिता होगी।
प्रत्येक भारतीय के लिए देश की मिट्टी के प्रति
आदर का भाव होना चाहिए। उन्होंने कहा- कि
पहले देश में सभी हिन्दु कहा जाता था किन्तु
अज्ञानतावश इसका अर्थ संकुचित होने लगा। मैं
आज भी अपने को हिन्दु कहने में गर्व का
अनुभव करता हूँ।

खैरटिया, लौरिया
प. चम्पारण (बिहार)



लोक-जीवन में रसे-बसे राम

◆ डॉ. श्रीकांत सिंह

लोक-जीवन में राम का महत्त्व असाधारण है। लोक के जीवन में राम बहुत ही गहरे रूप में रसे-बसे हैं। भारतीय वाङ्मय में, विभिन्न आख्यानों में तथा अनेक अवतारी चरित्रों में, शायद ही कोई ऐसा चरित्र है, जो राम के समान लोकप्रिय है। शायद ही कोई ऐसा पात्र है, जो लोक की दृष्टि में राम जितना सुख्यात है। लोक के रक्षक-रूप में, मर्यादा के पालक-रूप में, शील-नीति-प्रीति-धर्मदि सदाचरणों के संवाहक-रूप में आज तक राम के जीवन की इन्हीं उक्त विशेषताओं एवं सद्गुणों के कारण आज तक उन्हें अपने सर-आँखों पर बिठाए हुए हैं।

राम को हुए हजारों वर्ष हो गए। सहस्राब्दियों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् आज भी राम किसी-न-किसी रूप में लोक के जीवन में विराजमान हैं। लोक के सुख-दुःख एवं अनेक

रंग-ढंग में गहरे पैठे हुए हैं। आज भी गाँव-देहातों में कोई शिशु जब जन्म लेता है तब उसके जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में जो 'सोहर' (बच्चे के जन्म होने के अवसर पर गाया जानेवाला एक मंगल-गीत) गाया जाता है, उस मंगल-गीत में 'राम-जन्म' को उद्धृत किया जाता है। वही शिशु जब युवा हो जाता है और विवाह योग्य होता है, तब वह अपने प्रत्येक वैवाहिक रीति-गीत में राम-सदृश हो जाता है। उसके माँ-बाप क्रमशः कौसल्या-दशरथ-सदृश हो जाते हैं और उसकी भावी भार्या सीता-

सदृश। वही युवा अपनी जिंदगी की दूरियाँ तय करते-करते अन्ततः जब इस धरा-धाम से प्रस्थान करता है, तब उसकी अंतिम-यात्रा तक में राम 'राम-रूप' में शामिल होते नजर आते हैं। 'राम नाम सत्य है' के रूप में अपने होने की सार्थकता सिद्ध करते हैं। मतलब, इस संसार में मनुष्य के

भारतीय संस्कृति में देवोपासना की अनेक परम्पराएँ हैं- वैदिक आगम, भक्ति, सगुण, निर्गुण, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव आदि आदि। इनमें एक परम्परा के रूप में शाखा या उपशाखा के रूप में रामोपासना की परम्परा स्थूल रूप में दिखायी पड़ती है; किन्तु यदि हम लोक-जीवन की बात करें तो राम हमें किसी भी वाद या परम्परा से ऊपर रचे-बसे दिखाई पड़ेंगे। वहाँ वे वैष्णव-भक्ति शाखा के देव नहीं, सभी क्रिया-कलापों में जुड़े दिखायी पड़ेंगे। श्रीराम की इस लोक-व्यापिनी प्रसिद्धि पर यहाँ आलेख प्रस्तुत है। - सं०

आगमन से लेकर प्रस्थान करने तक की यात्रा में राम का वजूद महफूज नजर आता है।

लोक-जीवन के अन्य रंग-ढंग में भी राम विभिन्न रूपों में विराजमान नजर आते हैं। आज भी 'राम-राम' कहकर लोग एक-दूसरे का अभिवादन करते दिखायी देते हैं। यथा: 'राम-राम लाला जी', 'राम-राम सेठ जी', 'राम-राम मास्टर जी'। घृणास्पद कृत्यों के तिरस्कार-स्वरूप लोग-बाग 'राम-राम' (छि: छि:) कर उच्चारण करते दिखायी पड़ते हैं। कष्ट में पड़े हुए लोग अपने दुःख की निवृत्ति के निमित्त 'आह राम! हे राम!' कहकर राम को याद करते हैं। 'गोडसे' की गोली लगने के बाद मरने के पूर्व महात्मा गाँधी ने भी 'हे राम!' कहकर ही अपने प्राण का त्याग किया था। पुनः गाँधीजी द्वारा नित्य प्रातः प्रार्थना-सभा में गाया जानेवाला प्रसिद्ध भजन- 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम.. ' तथा भारत में 'रामराज्य' की अवतारणावाली उनकी अवधारणा तो जनसाधारण में लोकप्रिय और उदाहरणीय है ही।

आज भी, गाँव-देहातों में किसी महिला के ऊपर जब कोई विपदा का पहाड़ टूटता है तब वह 'आही रे रमवा।', 'आही रे दइबा।' कहकर ही विलाप-प्रलाप करते दिखायी देती है। दुःख की घड़ी में उसके अन्तःकरण से सहसा यह भावोच्छ्वास निकल ही पड़ता है कि ईश्वर राम के रहते, दैव राम के रहते, रक्षक राम के रहते आखिरकार क्यों उसके ऊपर विपदा का पहाड़ टूटा? वह क्यों अरक्षित हुई? और, तब इसी कारण राम उसके लिए 'रमवा', 'रे', 'अरे' के रूप में उद्धरणीय हो जाते हैं। निस्सन्देह, उस साधारण महिला के मन में राम के लोक-रक्षक

रूप से तत्काल चिढ़ हो जाती है। और, वह अपनी खीझ की अभिव्यक्ति के लिए ही 'राम' को 'रमवा' के रूप में परिवर्तित कर डालती है। यानी, आम जन-जीवन राम को निरन्तर लोकरक्षक रूप में देखना चाहता है। राई-रत्ती भी इधर-उधर नहीं। प्रायः यह भी देखा जाता है कि लोक में कोई व्यक्ति जब प्रतिकूल परिस्थितियों के फेरे में पड़ जाता है, उद्विग्न और चिन्तित रहने लगता है, तब उसके अगल-बगल का ही कोई दूसरा व्यक्ति उसे ढाढस बँधाते हुए यह कहते दिखायी पड़ता है-

सीताराम-सीताराम - सीताराम कहिए ।

जाही बिधि-राखे राम ताही बिधि रहिए ॥

यानी, राम जिस हाल में रखें, उसी हाल में रहो! मन उदास न करो! अच्छा दिन भी आवेगा ही! 'तेरो रामजी करेंगे बेड़ा पार, उदासी मन काहे का 'करे!' आज भी, गाँव-देहातों में, घरों एवं खलिहानों में, दुकानों तथा हाटों में अनाज वगैरह तौलने (हटवई) के क्रम में तराजूधारी व्यक्ति (हटुवा) 'रामे राम, रामे दो, रामे तीन, रामे चार.. ' कह-कहकर ही तौल का कार्य पूरा करता है। लोक में ऐसी धारणा है कि बिना राम के जड़े वह अनाज अपने वजन में पूजेगा ही नहीं? यानी, जीवन की हर क्रिया को पूरा करने में, पुण्यमय बना देने में एवं राम के हवाले कर देने में लोक की न्यारी लीला देखते बनती है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने अपने बचपन में खलिहानों एवं घरों में अपने गाँव के 'लल्लू साह' और 'जीउत सेठ' को 'राम' का उच्चारण करते हुए एवं अनाज तौलते हुए बड़ी गहराई से एवं नजदीक से देखा है। तौल के उन कार्यों में सम्मिलित भी हुआ है। क्योंकि, खलिहान में अनाज की बड़ी-बड़ी ढेरियों को तौलवाने के लिए कई-कई आदमियों की

जरूरत होती है। तब, शायद तौल के कार्य में प्रयुक्त 'राम' शब्द का मर्म अबूझ था। अब, उसका मर्म समझ में आता है। अब, यह तथ्य अनावृत होता जान पड़ता है कि लोक के विभिन्न कार्यों में कैसे, राम भीतर तक पैठे हुए हैं।

उत्तर भारत के प्रायः हर हिन्दु-परिवार में किसी-न-किसी सदस्य का नाम 'राम' से जुड़ा हुआ मिलता है। लोक में शायद ही व्यक्ति के 'नाम-रूप' में कोई पौराणिक अथवा धार्मिक चरित्र इतने व्यापक पैमाने पर सर्वस्वीकृत है और व्यहृत होता है। लोक ने राम के जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी बिम्बों को अपने नामकरण की दुनिया में समाहित कर लिया है। इतना ही नहीं, अनेक अनुसूचित-जातियों तथा बहुत से वणिक-परिवारों के नाम के अंत में 'राम' उपनाम लगा रहता है। अर्थात् 'नाम' और 'उपनाम' दोनों रूपों में राम की व्यापकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

गौरतबल है कि राम-कथा, राम-लीला, रामायण, रामचरितमानस, राम-नाम-कीर्तन, रामनवमी पर्व, राम से सम्बन्धित अन्य पर्व एवं गीत-भजन आदि विभिन्न रूपों में राम लोक-जीवन में मौजूद हैं। भाई-भाई, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, मित्र-बन्धु आदि सम्बन्धों के आदर्श-मानदण्ड के प्रतीक के रूप में आज भी राम सामान्य जन-जीवन के बीच स्पृहणीय बने हुए हैं।

ध्यातव्य है कि राम का जीवन आदि से अन्त तक संघर्षाच्छन्न रहा। उनके जीवन में एक-एक कर प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहीं। लेकिन, कठिनताओं से घिरे रहने के बावजूद उन्होंने कभी-भी मर्यादा, धीरता, गम्भीरता का परित्याग नहीं किया। खेलने-खाने की अवस्था में

विश्वामित्र के साथ वनगमन और ताड़का, मारीच, सुबाहु राक्षसादि से सामना, शिव-धनुष तोड़ने की चुनौती और परशुराम से टक्कर, विवाहोपरान्त सुखोपभोग एवं युवराज पद के बजाय चौदह वर्षों के लिए वनवास, पत्नी-वियोग, बालि से युद्ध, रावणादि से भीषण संग्राम..., दुःख पहुँचानेवाली ये सारी घटनाएँ राम के जीवन में उत्तरोत्तर घटती रहीं। लेकिन, राम कभी भी विचलित नहीं हुए। धीर-वीर-गम्भीर और मर्यादापालक बने रहे। परिवार-पुरजन, गुरुजन, मित्रगण, प्रजागण, मुनिमण्डली, केवट, निषाद, कोल, किरात, पशु-पक्षी, पर्वत-नदी-जंगल.... अर्थात्, समस्त लोक एवं लोकोत्तर का पालन करने, मोद प्रदान करने और मंगल करने में ही राम का पूरा जीवन समर्पित रहा। कदाचित्, इसीलिए लोक-जीवन में राम अपने युग में वन्दनीय तो बने ही रहे, आज भी, लोक-समुदाय में, उसके रंग-रंग में, उसके हर रंग-ढंग में राम विभिन्न रूपों में रमे नजर आते हैं। लोक-जीवन में रमते राम की इसी सच्चाई को लक्षित करते हुए महाकवि तुलसीदास ने लिखा है-

जड़ चेतन जग जीत सकल राममय जानि ।

(मा.1.7 ग.)

सियाराम मय सब जग जानी ।

(मा. 1.8.2)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू ।

(मा. 1.117.7)

उपरिविवेचित विषय के आलोक में यहाँ यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि ऐसा कौन-सा कारण था, जिसने राम को इतना व्यापक बना डाला? जिसने राम को लोक-जीवन में

सर्व-स्वीकार्य सिद्ध कर दिया? जिसने राम की मूर्ति लोक-रक्षक एवं लोकमंगल-विधायक के रूप में गढ़ डाली? इस प्रश्न के उत्तर के संधान में तब सहसा हमारी दृष्टि वाल्मीकि, भवभूति, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त आदि समर्थ साहित्यकारों पर जा टिकती है। इन महान् साहित्यकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में इस कदर राम का चरित्र गढ़ा था, रचा था, कि राम को सर्वव्यापक होना ही था। सचमुच, अगर ये कवि नहीं होते और इनमें भी तुलसीदास, तो राम का चरित्र व्यापक और प्रभावकारी रूप में लोक के सामने नहीं आ पाता। वाल्मीकीय-रामायण के प्रारम्भ में जब महर्षि वाल्मीकि ने मुनिवर नारद से यह पूछा कि-

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥
चारित्र्येण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥

(वा.रा., 1.1.2-4)

अर्थात् इस समय में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढप्रतिज्ञ, सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, एकमात्र प्रियदर्शन, पुरुष, मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोध को जीतनेवाला, कान्तिमान्, किसी की निन्दा नहीं करनेवाला... कौन है? तब, तीनों लोकों का ज्ञान रखनेवाले मुनिवर नारद ने उत्तर-रूप में 'राम' का नाम बताया-

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्जुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥

◆ ◆ ◆ ◆
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञान सम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥
प्रजाप्रति समः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥

उपरि उल्लिखित वाल्मीकि के प्रश्न एवं नारद के उत्तर से यह स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण' में लोक के सम्मुख एक ऐसे पुरुष राम को प्रस्तुत किया था, जो सब प्रकार से शीर्षस्थ था। पहली बार जब वाल्मीकीय रामायण के माध्यम से राम का चरित्र इतने सशक्त और उदात्त रूप में सामने आया था, तब लोक ने अपने को सहसा आह्लादित पाया। दूसरी बात यह है कि वाल्मीकि ने इस राम-चरित्र को लव-कुश के माध्यम से गायन करा-कराकर लोक के बीच उसको प्रस्तुत कराया था और प्रकारान्तर से प्रचारित भी। लोक ने पहली बार इस सत्य को अनुभूत किया था कि अपने कर्मों से कोई भी मनुष्य (नर) ईश्वर (नारायण) सदृश बन सकता है। अर्थात् नर से नारायण बनने की रचना का नाम है- वाल्मीकीय रामायण। यही कारण है कि वाल्मीकि ने वैसे ही राम का चित्रण लोक के सामने प्रस्तुत किया था, जिसमें मनुष्योचित कमजोरियाँ भी थीं। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अपनी कमजोरियों पर उत्तरोत्तर विजय प्राप्त करता जाए, तो जीवन में निश्चित रूप से वह भी राम सदृश लोकप्रिय हो सकता है। लोक में उदाहरणीय

और आचरणीय हो सकता है। यानी, वाल्मीकि द्वारा गढ़ा गया राम का चरित्र लोक-जीवन के लिए एक मानदण्ड, निकष, आदर्श का कार्य कर गया। प्रतीक बन गया। उन्होंने जन-जन को राम से परिचित करा दिया। जन-जन में राम को लोक-प्रिय भी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि भारतीय लोक-जीवन के हर रंग-ढंग में, सुख-दुःख में, रीत-गीत में, स्वयमेव राम की उपस्थिति होती चली गयी। और, लोक-परम्परा, लोक-संस्कृति एवं लोक-जीवन में राम रसते-बसते चले गए।

भारत के लोक-जीवन में राम के व्यापक होने में तब और विशेष गति आ गयी, जब महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' और राम से सम्बन्धित अन्यान्य कृतियों की रचना की। यह एक सुखद संयोग है कि जिस तरह से लव-कुश के माध्यम से वाल्मीकि ने राम-कथा को लोगों के बीच प्रचारित कराया था, उसी प्रकार तुलसीदास ने भी स्वयं रामलीला-मंडली का निर्माण कर, रामलीला करवा-करवाकर, राम-कथा का जगह-जगह प्रचार-प्रसार किया। महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में पहले ही यह स्पष्ट कर दिया कि मैं वैसे रामचरित को प्रस्तुत करने जा रहा हूँ जो चिन्तित, दुःखी, प्रताड़ित, थके-माँदे लोक की रक्षा करनेवाला, विश्राम देनेवाला और गरीबों-वंचितों की सहायता करनेवाला है।

जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम ।

(मा. 1. 191)

भए प्रगट कृपाला दीन दयाला...

(मा. 1.192.1)

जो आनंद सिंधु सुख रासी ।

सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥

सो सुखधाम राम अस नामा ।

अखिल लोक दायक विश्राम ॥

(मा. 1.198.5-6)

महाकवि तुलसीदास ने अपनी रचनाओं के माध्यम से, लोकभाषा में, लोक के सम्मुख, ऐसे राम को प्रस्तुत किया, जो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। जो अन्याय के विरोधी और अन्यायी के भंजक हैं। जो शील, नीति, धर्म के साक्षत् प्रतिरूप हैं। जो आदर्श के पूर्ण प्रतीक हैं। राम के इस रूप को राम-कथा के माध्यम से तुलसीदास ने इस भाँति प्रस्थापित किया कि लोक उस चरित्र को पाकर धन्य-धन्य हो गया। लोक राम के साथ और राम लोक के साथ कदम-से-कदम मिलाकर एक साथ चलने लगे। जीवन के हर प्रसंग में राम की उपस्थिति दर्ज होने लगी। राम लोगों के लिए उदाहरणीय और आचरणीय हो गए। सचमुच, जन-जन के मन में, उनकी झोपड़ी और हर घर में, उनके जीवन के हर सुर-ताल में, राम को रसाने-बसाने में तुलसीदास की महती भूमिका है। लोक आज भी, अपने जीवन की हर परिस्थिति में तुलसी, तुलसी के राम एवं तुलसी के 'रामचरितमानस' की उक्तियों को उद्धृत करते दिखायी देता है।

सम्प्रति, इस सन्दर्भ में मैथिलीशरण का उल्लेख भी आवश्यक है। गुप्तजी ने 'साकेत' के माध्यम से वैसे राम को प्रस्तुत किया, जो समग्र लोक के कल्याण एवं समस्त भूतल को स्वर्ग में परिवर्तित करने के लिए कटिबद्ध एवं वचनबद्ध है-

सुख-शांति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,

विश्वासी का विश्वास बचाने आया,

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,

जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं ।

◆ ◆ ◆
सुख देने आया, दुःख झेलने आया,
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया ।
मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया,
गढ़ने आया हूँ, नहीं, तोड़ने आया ।

◆ ◆ ◆
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।

(साकेत, अष्टम वर्ग, पृ. 145-46)

जाहिर है, जो सदैव मनसा, वचसा, कर्मणा लोक के कल्याण में प्रवृत्त रहेगा, प्रत्युत्तर में लोक भी उसे अपने हृदय में बसाएगा ही। राम-कथा के रचनाकारों ने इस कदर राम का चरित्र रचा-गढ़ा और इस कदर उसे सशक्त रूप में लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया कि जन-जन राम के, और राम जन-जन के हो गए। अन्ततः यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राम को लोकमय और लोक को राममय बनाने में महाकवि तुलसीदास की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही है। राम को

लोक-जीवन में रसाने-बसाने में महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना और उसका गायन नहीं किया होता, तो भारी भवसागर से 'लोक' को भला कौन पार उतारता?

बेदमत सोधि, सोधि-सोधि कै पुरान सबै
संत औ असंतन को भेद को बतावतो ।
कपटी कुराही कूर कलि के कुचाली जीव
कौन रामनामहू की चरचा चलावतो ॥
'बेनी' कवि कहै मानो-मानो ही प्रतीति यह
पाहन-हिये में कौन प्रेम उपजावतो ।
भारी भवसागर उतारतो कवन पर
जो पै यह रामायण तुलसी न गावतो ॥

(मानस, मूल गुटका, गोरखपुर-गीताप्रेस सं.
2052, पृ. 30)

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना-20
प्रधान संपादक, 'विमर्श'



लेखकों के प्रति निवेदन

'धर्मायण' पत्रिका के लिए शोधपूर्ण आलेखों का हम स्वागत करते हैं। पत्रिका की प्रकृति को देखते हुए हम अधिक से अधिक गवेषणापूर्ण आलेख इसमें प्रकाशित करना चाहते हैं। रामचरितमानस, राम-परम्परा पर हम बहुत अधिक आलेख प्रकाशित कर चुके हैं। अतः पत्रिका में विविधता लाने के उद्देश्य से इन विषयों से अतिरिक्त नवीन विषयों पर हमें आलेखों की अधिक अपेक्षा है। बिहार की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक गौरव पर विशेष रूप हम आलेख आमन्त्रित हैं। रिपोर्ताज की शैली में बिहार के विभिन्न महत्त्वपूर्ण स्थानों पर परिचय भी आमन्त्रित है। प्रकाशित रचनाओं पर सम्मानस्वरूप पत्र-पुष्प की भी व्यवस्था है।

वेदों में वैज्ञानिक शिल्प

◆ डॉ० धीरेन्द्र झा

वेद अनन्त ज्ञान-विज्ञान की निधि है। मनु आदि ऋषियों ने कहा है- “भूतं भवद् भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। अर्थात् वैदिक विज्ञान सब कालों व सभी परिस्थितियों में अनुकरणीय है।

वेद मन्त्रों में वैज्ञानिक शिल्पादि का वर्णन सर्वत्र प्राप्त होता है यथा- (ऋ. 4/36/1)

अनश्वो जातो अनभी शुरुक्थ्यो
रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं
द्यामृभवः

पृथिवीं यच्च पुष्यथा।

इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि वामदेव है इस मन्त्र में ऋभु देवताओं की स्तुति की गयी है। प्रसिद्ध भाष्यकार माधवाचार्य के अनुसार मन्त्रार्थ है:- “हे

ऋभु देवताओं! आपने जो रथ बनाया है, वह घोड़े आदि साधन और लगाम इत्यादि उपकरणों की अपेक्षा नहीं रखता है। तीन पहिये का वह रथ अन्तरिक्ष लोक में भ्रमण करता है और ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों के द्वारा आप पृथ्वी और द्यु (स्वर्ग) दोनों को ही पुष्ट करते हैं। ऋग्वेद-संहिता के चतुर्थ मण्डल के छब्बीसवें सूक्त में पुनः बताया गया है कि-

रथं ये चक्रुः सुव्रतं सुचेतसोऽ-

विहरन्तं मनसस्परिष्यया।

तां ऊन्वस्य सदनस्य पीतये

आवो वाजा ऋभवो वेदयामसि।।

अर्थात् हे ऋभु

देवताओं! आपने अपने मन के विचारमात्र से अल्पप्रयास से जो यह सुन्दर गोल और सीधा रथ बनाया है, उसको हम अपने इस यज्ञ में सोमपान करने के लिए निमन्त्रित करते हैं।

लंका विजय के पश्चात् भगवान् श्रीराम पुष्पक विमान से अपने बन्धु-बान्धवों के साथ अयोध्या लौटे, ऐसा रामायण में लिखा गया है। ऋग्वेद में हेलिकॉप्टर

के समान उड़नेवाले तीव्रगामी स्वचालित विमान का उल्लेख मिलता है यथा:-

अनेनवो मस्तो यामो

अस्त्व नश्वश्चिद्यमजत्यरथीः।

अनवसो अनभीशू रजस्तुः

र्विरोदसी पत्थ्या याति साधन्।।

(ऋ. सं.- 6/66/7)

निःसन्देह विज्ञान आज प्रगति पर है, किन्तु जब हम भारतीय परम्परा में प्राचीन काल की ओर झाँकते हैं, तो आज जो जो साधन हमारे पास उपलब्ध हैं, उनका वर्णन हमें वैदिक एवं आर्ष साहित्य में मिलता है। यह सब मात्र कल्पना का वितान नहीं है; क्योंकि कल्पना भी कभी निराधार नहीं होती है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्राचीन काल में कभी वे संयन्त्र अवश्य थे। उन्हें बनाने की कुछ तकनीक का अवशेष ‘विमान-शास्त्र’ के रूपमें आज भी उपलब्ध हैं। आर्ष साहित्य में वैज्ञानिक संयन्त्रों की चर्चा पर विवरण यहाँ प्रस्तुत है। -सं०

तिम्रः क्षपस्त्रिरोहति व्रजेदभि-
 नासत्या भुज्युमूह्युः षतङ्गैः।
 समुद्रस्य धन्वन्नार्दम्यपारे
 त्रिभीरथैः शतपद्रिः षड्श्वैः॥

(ऋ. सं. - 6/116/4)

अर्थात् नासत्य भुज्युओं को विचित्र प्रकार के विमान से ले गये, जो अत्यन्त वेग (गति) से बिना रुके तीन दिन तक उड़ता ही रहा। ऐसे तीन यान उनके पास थे, जिनकी आकृति नौका के समान थी और वे आकाश में उड़ते थे।

शुक्लयजुर्वेद संहिता के 21वें अध्याय की छठीं सातवीं कण्डिका के अध्ययन से यह पता चलता है कि ऐसे नाव थे, जिनमें पर्याप्त लोग एक साथ यात्रा कर सकते थे। ये नौकायें छिद्ररहित सैकड़ों पतवारों से युक्त और अत्याधुनिक स्वचालित होती थी। यथा-

सुत्रामाणं पृथिवी द्यामनेहसं
 सुशार्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
 देवीं नावं स्वरित्र मनागस-
 मस्रवन्तीमारुहेमा स्वप्स्तये॥

ऋग्वेद में समुद्रयान व वायुयान की चर्चा देखने को मिलती है। इसके आलावा अनेक प्रकार के आग्नेयास्त्रों व युद्धविद्याओं का वर्णन ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद के द्वितीय तथा पंचम मण्डल में शिल्पकलाओं का वर्णन विस्तार से देखने को मिलता है। ऋग्वेद में हजारों स्तम्भों वाले भवनों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के वस्त्रों, शिल्पकलाओं व धातुओं की चर्चा वेदों में सर्वत्र वर्णित है। ऋग्वैदिक काल में आर्यों के पास यातायात के साधनों का अभाव नहीं था। उनके पास रथों, विमानों व समुद्री जहाजों का प्रबल बेडा उपलब्ध था, जिसके द्वारा जल, स्थल व वायुमण्डल में सर्वत्र उनका शासन था। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के

सैतीसवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि:-

क्रीलं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
 काण्वाः अभि प्रगायत॥

(ऋ. सं. 1/37/1)

अर्थात् हे काण्वगोत्रोत्पन्न ऋषियों! आप उसी प्रकार उत्तम शिक्षण करते हैं, जिस प्रकार बाष्पशक्ति के प्रभाव से चलनेवाला अश्वरहित रथ चलता है। अर्थात् उस समय बाष्पशक्ति के बल पर रथादि वाहन चलायें जाते थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में सामुद्रिकपोत का वर्णन किया गया है:-

द्विषो नो विश्वतो मुखाति नावेव पारय।
 अप नः शोशुचद्ध्वम्॥

(ऋ. सं. 1/9/7/7)

अर्थात् हे विश्वतोमुख देवता! आप हमारे शत्रुओं को उसी प्रकार दूर करे जिस प्रकार जलयान के द्वारा क्षणभर में हम दूर-दूर चलें जाते हैं। इस वर्णन से प्राचीन काल में समुद्र में चलनेवाले द्रुतगामी पोतों का अस्तित्व में होना पता चलता है। महाभारत के आदिपर्व में लिखा है कि:-

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
 पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनम्॥
 सर्ववातसहां नावं यन्नैरुक्ता पताकिनीम्।
 शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्बिभिः कृताम्॥

इसमें यन्त्रयुक्त पोत का वर्णन किया गया है।

रामायण में हनुमान द्वारा लक्ष्मण को जीवित करने हेतु आकाशमार्ग से संजीवनी बूटी का लाना, यह सब घटना आश्चर्यजनक नहीं, अपितु विज्ञानसम्मत है; क्योंकि हनुमान् मारुत के समान वेगवान् थे। संभवतः उनके पास तीव्रगामी राकेट बेल्ट था, जो मन की गति से जल-स्थल और

आकाश में सर्वत्र प्रभावी था। निवातकवच युद्ध ने अर्जुन को जो दिव्य रथ दिया था उसका वर्णन महाभारत में किया गया है कि:-

अन्तर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते।
पुनस्तिर्यक् प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति॥

(महाभारत युद्ध पर्व)

यह रथ अत्यन्त ही दिव्य था, जो मन में इच्छा होने पर धरती पर आकाश में तिरछा और पानी के अन्दर डूबकर भी चलता था। इस प्रकार, आज के वायुमान पनडुब्बी व लोकयान की सभी विशिष्टतायें इस रथ में विराजमान थी।

इसी प्रकार, महर्षि नारद के द्वारा तीनों लोकों में भ्रमण तथा सभी प्रकार के संकटकालीन समय में नारद का उपस्थित हो जानात्र अपने-आप में एक आश्चर्यजनक घटना है। इसी प्रकार पूर्वपुरुषों का दीर्घायुष्ट्व भी आश्चर्यप्रद है। सत्युग, त्रेता व द्वापर तीनों की युगों में नारद उपस्थित दिखाई पड़ते हैं। ब्रह्मर्षि परशुराम जनक के धनुषयज्ञ के समय भीम को अस्त्रविद्या प्रदान करने तथा कर्ण को धनुर्विद्या प्रदान करने के समय उपस्थित दिखाई देते हैं। आज भी हमारे देश में प्रभातबेला में लोग सप्त चिरंजीवी पुरुषों का नामस्मरण शतायु होने के लिए करते रहते हैं यथा-

अश्वत्थामा बलिव्यासो हनूमाँश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवेद् वर्षशतं सोऽपि सर्वव्याधिविवर्जितः॥

इनके स्मरण करने दीर्घायु होना केवल ज्ञान सापेक्ष नहीं, अपितु उनके आचरण के अनुकरण से संबद्ध है। आज के मनुष्य के अल्पायु होने का कारण बताते हुए भगवान् मनु कहते हैं-

अनभ्यासेन वेदानांमाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति॥

(मनु- 5/4)

अर्थात्, जो वेदाभ्यासी, आचार-सम्पन्न व तीव्र मेधा से युक्त हैं, वही दीर्घजीवी हो सकते हैं। अभक्ष्यभक्षण से व्यक्ति का अल्पायु हो जाना स्वाभाविक हो जाता है।

अस्त्रशास्त्र कला- राम रावण के युद्ध में वृक्षोत्पाटिनीविद्या पर्वतोक्षेपणीविद्या वानरों की युद्ध प्रशिक्षण कला हनुमान् का शरीर का आकार बढ़ाना छोटा करने की विद्या और भालुओं के राजा जाम्बन्त का युद्धकौशल, गृधराज जटायु सम्पाति का सूर्य के नजदीक गमन की कथा सभी रामायण पाठ करनेवाले जानते हैं। रावण के अधीन जल, वायु और अग्नि सभी थे। जब हनुमान् लंका जाने के लिए समुद्र पार कर रहे थे, तब सिंहिका नामक राक्षसी के द्वारा उनकी गति को रोक लेना राडार नामक यन्त्र के विकास का परिचायक है। वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में (सर्ग- 1 श्लोक 187-190) बताया गया है कि:-

छायायां ग्रहमाणायां चिन्तयामास वानरः।

समाक्षिप्तोऽस्मि सहसा पट्टुकृत पराक्रमः॥

सीताहरण के समय खीची गयी लक्ष्मणरेखा वास्तव में विद्युत् परिधि थी। महाभारत में संहारक वैष्णव, अमोघ, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र ब्रह्मशिरास्त्रादि परमाणुक्षमता से युक्त थे। पशुपति द्वारा प्रदत्त पाशुपतास्त्र की महिमा का वर्णन द्रोण पर्व में तथा इसका दुरुपयोग रोकने को नारद बताते हैं कि “जब इन दिव्यास्त्रों का प्रयोग सामान्य प्रजा पर होगा, तो उनके नाखून केशादि असमय गिर जायेंगे, उनका चमड़ा पीला व शरीर दुर्बल हो जाएगा।” अतः इन अस्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। महाभारत के निवातकवच युद्ध पर्व के (श्लोक 175-222) में कहा गया है कि-

अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव।
भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः वृथा क्वचित्।।इति।।

महाभारत युद्ध के अन्तिम समय कौरव पक्ष के विनाश से शोकाकुल अश्वत्थामा प्रतिशोध लेने के लिए जब नारायणस्त्र छोड़ता है, तब उसे रोकने के लिए अर्जुन पाशुपतास्त्र छोड़कर सभी पाण्डवों की रक्षा करते हैं। इसके बाद, अश्वत्थामा ब्रह्मशिर नामक अस्त्र छोड़ता है, तब उससे व्याकुल होकर पाण्डव सैन्य सहित जल में घुसकर अपनी रक्षा करते हैं। इन अस्त्रों के संचालन हेतु कठिन प्रशिक्षण दिया जाता था। गन्धर्वराज अंगारपर्ण से अर्जुन ने सम्मोहन-विद्या सीखी थी। पाण्डवों के अश्वमेध दिग्विजय के समय अग्निपर्ण नामक

राजा की सीमा के चारों तरफ आग की ज्वाला भड़क उठती थी, जो उसकी राज्य सीमा के विद्युत नियन्त्रित होने का द्योतक है।

शिवमस्तु सर्वजगतां

परहित निरता भवन्तु भूतगणाः।

दोषाः प्रयान्तु नाशं

सर्वत्र सुखी भवतु लोकः।।

प्रधानाचार्य

सरस्वती विद्या मन्दिर

एस.पी. कोठी के पास

गया कालेज रोड, गया (बिहार)



समुद्रकृत श्रीरामस्तुति

(स्कन्दपुराण : ब्राह्मखण्ड : सेतुमाहात्म्य : अध्याय 2। श्लोक 75-88)

नमामि ते राघव पादपङ्कजं सीतापते सौख्यद पादसेवनात्।

नमामि ते गौतमदारमोक्षजं श्रीपादरेणुं सुरवृन्द सेव्यम्।।

सुन्दप्रियादेहविदारणे नमो नमोऽस्तु ते कौशिकयागरक्षणे।

नमो महादेवशरासभेदिने नमो नमो राक्षससंघनाशिने।।

राम राम नमस्यामि भक्तानामिष्टदायिनम्। अवतीर्णो रघुकुले देवकार्यचिकीर्षया।।
नारायणमनाद्यन्तं मोक्षदं शिवमच्युतम्। राम राम महाबाहो रक्ष मां शरणागतम्।।
कोपं संहर राजेन्द्र क्षमस्व वरुणालय। भूमिर्वातो वियच्चापो ज्योतीषि च रघूद्वह।।
यत्स्वभावानि सृष्टानि ब्रह्मणा परमेष्ठिना। वर्तन्ते तत्स्वभावानि स्वभावो मे ह्यगाधता।।
विकारस्तु भवेद्गाध एतत् सत्यं वदाम्यहम्। लोभात्कामाद्भयाद्वापि रागाद्वापि रघूद्वह।।
न वंशजं गुणं हातुमुत्सहेयं कथञ्चन। तत्करिष्ये च साहाय्यं सेनायास्तरणे तव।।
इत्युक्तवन्तं जलधिं रामोऽवादीन्नदीपतिं। ससैन्योऽहं गमिष्यामि लङ्कां रावणपालिताम्।।
तच्छोषमुपयाहि त्वं तरणार्थं ममाधुना। इत्युक्तस्तं पुनः प्राह राघवं वरुणालयः।।
शृणुष्यावहितो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर। यद्याज्ञया ते श्रुष्यामि ससैन्यस्य यियासतः।।
अन्येष्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवे धनुषो बलात्। उपायमन्यं वक्ष्यामि तरणार्थं बलस्य ते।
अस्ति ह्यत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसंमतः। त्वष्टुः काकुत्स्थ तनयो बलवान् विश्वकर्मणः।।
स यत्काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्यते मयि। सर्वं तद्भारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति।।



विज्ञान एवं भक्ति का संगम

◆ डॉ. जटाधारी

इस सृष्टि में प्रत्येक जीव अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है, किन्तु मनुष्य का जीवन इस अर्थ में भिन्न है कि वह केवल अस्तित्व के लिए ही नहीं जीता है। डा. राधाकृष्णन् ने कहा है-

Man lives not only to exist but also to know & express himself.

सत्य को जानने की उसकी सहज जिज्ञासा होती है। वह अपने को, इस जगत को और सबसे पहले परमतत्व (ब्रह्म) को भी जानना चाहता है।

विज्ञान अब यह स्वीकार करता है कि वह वस्तुओं की प्रतीति की ही विवेचना करता है, उस प्रतीति के पीछे स्थित यथार्थ की नहीं।

आधुनिक भौतिकशास्त्रियों में कुछ मानते हैं कि विज्ञान ने हमारे पास-पड़ोस के बारे में जो भी तथ्य उद्घाटित किया है, वह वस्तुओं के बाह्य पक्षों से ही सम्बन्धित है। इस दृश्यमान विश्व के पीछे एक अदृश्य विश्व भी है और स्वयं द्रष्टा

आइन्स्टीन ने कहा था कि जो होता है, वह विज्ञान है और जो होना चाहिए, वह अध्यात्म का स्वरूप है। अध्यात्म हमारा लक्ष्य निर्धारित करता है, तो विज्ञान साधन बनकर वहाँ तक पहुँचने का उद्यम करता है। यात्रा में जिस प्रकार आँख और पैर दोनों का सही सलामत होना आवश्यक है, उसी प्रकार विकास के लिए धर्म और विज्ञान का गठबन्धन आवश्यक है। अध्यात्म, धर्म या भक्ति के साथ विज्ञान के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में यह आलेख प्रस्तुत है, जिसमें दोनों के संगम पर बल दिया गया है। -सं०

भी। विज्ञान और उसकी विधियों के सम्बन्ध में यह अति महत्वपूर्ण स्वीकारोक्ति है। आत्मतत्त्व (अपने आपको) और भौतिक जगत के परे जो विराट् आध्यात्मिक जगत् है उसको जानने का

विज्ञान का न लक्ष्य है और न कोई प्रयास। लेकिन यह तथ्य है कि आत्मतत्त्व और परात्पर तत्त्व को जाने बिना केवल भौतिक जगत् को जानकर हम वास्तविक वेत्ता नहीं बन सकते हैं।

विज्ञान के द्वारा हम जिस सत्य का अन्वेषण करते हैं, वह सापेक्ष सत्य (Relative truth) है, न कि परमसत्य या पारमार्थिक सत्य (Absolute truth) वस्तुतः सापेक्ष सत्य या प्रातिभासिक सत्य,

वास्तविक सत्य नहीं है। आइन्स्टीन जैसे महान् विज्ञानवेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि परम सत्य, निरपेक्ष सत्य, (Absolute truth) दर्शन भी भाषा में पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति हमें नहीं हो पाती है; क्योंकि ऐसी कोई तर्क-पद्धति नहीं है,

जिससे परम सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। Relative truth can be achieved by process of reasoning but Absolute truth can not be only process of reasoning.

सर जेम्स जीस ने अपनी पुस्तक 'द न्यू बैकग्राउंड ऑफ सायंस' (विज्ञान की नई पृष्ठभूमि) में लिखा है- "भौतिक विज्ञान पदार्थ और विकिरण से भरे जगत् का अध्ययन करने चला था, लेकिन उसके सामने जो सच्चाई उजागर हुई वह यही है कि वह दोनों में से किसी की प्रकृति का सम्यक् विवेचन नहीं कर सकता। न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन भौतिकशास्त्रियों के लिए प्रायः वैसे ही अर्थहीन सिद्ध हुए हैं, जैसे कि किसी बच्चे के ज्यामिति सीखने के प्रथम दिन x, y, z जैसे संकेत अर्थहीन प्रतीत होते हैं। अभी हम अधिक से अधिक यही उम्मीद कर सकते हैं कि बिना यह सीखे कि x, y, z वस्तुतः क्या है, हम उनसे काम निकालने के तरीके जान लें। इसे ही आइंस्टीन ने एक अबोधगम्य से दूसरे अबोधगम्य का निष्कर्ष निकालने की संज्ञा दी है। अतीन्द्रिय बातें विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आती, तथा वह तथ्यों की अन्तिम अथवा चरम व्याख्या भी नहीं करता। उसका सम्बन्ध आदि कारणों से नहीं बल्कि गौण कारणों से है।"

सापेक्षतावाद के सिद्धान्त ने भौतिकशास्त्र के समस्त विषय की समीक्षा कर डाली है। उसने उन महान् सिद्धान्तों का एकीकरण कर डाला है, जिन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता एवं प्रयुक्ति की सुनिश्चितता द्वारा मानव के ज्ञान-भण्डार में भौतिक विज्ञान को वह सम्मानजनक स्थान दिलाया है, जिसपर वह आज स्थित है। फिर भी वस्तुओं के स्वरूप के सम्बन्ध में यह ज्ञान एक खोखला छिलका मात्र है- एक संकेतमात्र है। यह केवल बनावट का ज्ञान है, स्वरूप का नहीं।

आइंस्टीन जैसा सार्वकालिक वैज्ञानिक का यह निश्चित मत है कि विज्ञान की सृष्टि ऐसे लोगों द्वारा ही सम्भव है, जिनमें बुद्धिमत्ता एवं सत्यानुराग दोनों हैं और इस भावना का स्रोत, जो वैज्ञानिक चेतना के समीचीन विकास के लिए आवश्यक है, धर्म के क्षेत्र में है। उन्हीं के शब्दों में- "इस भावना में यह विश्वास भी निहित है कि जगत् के नियामक सिद्धान्त तर्क द्वारा समझे जा सकते हैं। ऐसे गहरे विश्वास से रहित सच्चे वैज्ञानिक की मैं कल्पना नहीं कर सकता।"

अस्तु परम सत्य का ही नहीं, अपितु सापेक्ष सत्य का भी साक्षात्कार बिना श्रद्धा और विश्वास के सम्भव नहीं है और श्रद्धा, विश्वास वस्तुतः भक्ति के ही अंग है। दुर्भाग्य है कि इन दो महान् शक्तियों (भक्ति और विज्ञान) ने अबतक एक दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से देखा है तथा कई बार एक दूसरे से झगड़ा किया है, जिससे मानव का अकल्याण ही हुआ है। लेकिन आज निश्चय ही ऐसा समय एवं ऐसी तात्कालिक आवश्यकता उपस्थित हो गयी है, जब इन्हें मित्रता एवं सम्मानपूर्वक एक दूसरे के साथ पेश आना चाहिए, जिससे वे एक दूसरे से सीख सकें तथा एक दूसरे की शक्ति से बलीयान् हो सकें, अन्यथा हम धर्म के साधनहीन ज्ञान अथवा विज्ञान की प्रेरणाहीन कुशलता से वर्तमान एवं भविष्य की पेचीदी समस्याओं का समाधान नहीं कर पायेंगे।

विज्ञान का कार्यक्षेत्र देश, काल एवं कार्य-कारण के अन्तर्गत है, जबकि धर्म का सम्बन्ध इनके परे की वस्तु से है। देश, काल एवं कार्य-कारण के परे का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें इनकी सीमाओं का अतिक्रमण करना होगा। विज्ञान वर्णनात्मक है और अन्तिम व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता, जबकि धर्म रहस्यवादी तथा

व्याख्यापरक है और इन्द्रिय-गम्य जगत् के परे की अनुभूतियों और लक्ष्य करता है। एक ही जीवन में पूर्ण विकसित विज्ञान एवं पूर्ण विकसित धर्म के प्रभावशाली आदान-प्रदान के फलस्वरूप विज्ञान ज्ञान प्रदान करेगा और धर्म जीवन में परिवर्तन लायगा। बुद्धि तथा इन्द्रियों की सहायता से वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है, लेकिन आध्यात्मिक ज्ञान की बात अलग है। उपनिषदों में कहा गया है-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥

अर्थात् जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि शान्त हो जाते हैं, एवं कार्य नहीं करते, वह परम गति कहलाती है। अतः विज्ञान को यहाँ बाह्य प्रकृति की तुलना में अधिक आकर्षक, अधिक विस्तृत अध्ययन-क्षेत्र मिलेगा। यदि विज्ञान को आगे बढ़ना है, तो उसे बाह्य विश्व का रहस्य जानने के बदले मनुष्य के आत्मतत्त्व को अपने अनुसन्धान का विषय बनाना होगा।

मानवीय विकास की गतिकता का तकाजा है कि मनुष्य की शिक्षा तबतक चलती रहनी चाहिए, जबतक यह अहं-केन्द्रित से आगे जाकर अहं से परे, ज्ञान से प्रज्ञा की स्थिति को न प्राप्त कर ले। अहं के सुविधाजनक अस्थायी विभ्रम में वास्तविक आत्मज्ञान के आध्यात्मिक विकास का विज्ञान और उसकी प्रविधि आचारशास्त्र, सौंदर्य शास्त्र और धर्म के विशेष अवदान हैं। यह मनुष्य को, चाहे वह कार्य में संलग्न हो अथवा पूजा में, समाज में हो अथवा अकेले, आध्यात्मिक संपोषण प्रदान करता है। सेवा और समर्पण की भावना से किया गया कार्य आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥८/७

अर्थात्, इसलिए तू सदैव मेरा स्मरण कर और युद्ध कर।

भौतिक विज्ञान- विज्ञान की वह शाखा है जिसकी प्रयोगशाला बाहरी भौतिक जगत् है। भक्ति-योग भी विज्ञान है, जिसकी प्रयोगशाला मानव का आन्तरिक शरीर ही है। विज्ञान जहाँ विषयों का अध्ययन वस्तुनिष्ठ प्रणाली (Objective method) अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियों के द्वारा करता है, वहीं भक्ति आत्मनिष्ठ प्रणाली अर्थात् शरीरान्तर्गत विद्यमान भावनाओं का अन्तर्वीक्षण.(Introspection) द्वारा करता है। भौतिकविज्ञानी फ्रिटजॉफ चैपरा (Fritzoff Capra) ने 'द टाओ ऑफ फिजिक्स', (पे. 25) में लिखा है कि "प्राच्य विश्व-दर्शन के मूलतत्त्व भी वहीं है, जो आधुनिक भौतिकी के हैं और प्राच्य-चिन्तन और अधिक सामान्य रूप में रहस्यवादी चिन्तन, समसामयिक विज्ञान के सिद्धान्तों को सुसंगत और प्रासंगिक, प्रासंगिक दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है।"

अल्बर्ट आइंस्टीन के शब्दों में, 'यद्यपि धर्म और विज्ञान स्पष्टतः एक दूसरे से भले ही भिन्न प्रतीत हो, दोनों गहरे रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध तथा परस्पर निर्भर हैं। अंतिम लक्ष्य भले ही धर्म निर्धारित करे, इसने मोटे तौर पर विज्ञान से यह सीखा है कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कौन-से-साधन अपनाए जाएं। वैज्ञानिक अनुसंधान भी उन्हीं लोगों का कार्य हो सकता है जो सत्य और ज्ञान के प्रति निष्ठावान् हैं और यह निष्ठावान् हैं और यह निष्ठाभाव धर्म के क्षेत्र से उद्भूत होता है। विज्ञान इस आस्था पर ही आधारित है कि दृश्यमान जगत् भी विवेक संगत नियमों से ही संचालित होता है और ये नियम ज्ञातव्य है। इस स्थिति को एक बिम्ब के द्वारा इस

प्रकार व्यक्त किया जा सकता है- Since science without religion is lame & religion without science is blind, hence religion is the fulcrum upon which the science of physics and metaphysics revolves.

यूरोप में वैज्ञानिक द्वारा एकट्रोप्लाज्म अथवा सूक्ष्म वहिर्सता (आत्मरस) की गवेषण की जा रहा है, जिस बाष्पमय वस्तु का कोई निर्दिष्ट आकार नहीं होता। यह बादल के समान होती है और कोई भी आकार ले सकती है तथा उसका छाया-चित्र भी खींचा जा सकता है। परन्तु वैज्ञानिक यह नहीं कह सकते कि यह पदार्थ क्या है, फिर भी उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

एकट्रोप्लाज्मा एक ऐसा सारतत्व है, जिसमें संवेदनशील सूक्ष्म जड़ कण रहते हैं और यही सूक्ष्म जड़, कण शाश्वत आत्मा के भीतरी तथा समग्र जड़ देह के बाहरी आवरण का निर्माण करता है, साथ ही, सूक्ष्म या वायवीय शरीर के आवरण का भी निर्माण करता है, जो हम सब में है।

हम तीन स्तर (Three dimension) में जीवन यापन करते हैं। किन्तु इन तीन स्तरों के अतिरिक्त एक स्तर और भी है जो ऐन्द्रिक विषयों अथवा इन्द्रियों की अनुभूति के बाहर है। पार्थिव स्थूल शरीर की वहाँ पहुँच नहीं है। यहाँ तक कि पृथ्वी अथवा किसी ग्रह नक्षत्र की गति का भी वहाँ अस्तित्व नहीं है। जब तक हम उसकी झलक नहीं पाते, तब तक उस स्तर की कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी को चतुर्थस्तर (Fourth dimension) कहते हैं।

प्रारम्भ और अन्तिम प्रयोजनों के बारे में विचार करना विज्ञान की परिधि के बाहर है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना । ।

गीता 2/228

विज्ञान उसे जानने की कोशिश करता है जो मध्य में है, वह आदि और अन्त को नहीं जान सकता। आध्यात्मिक सत्य के सम्बन्ध में एकमात्र कठिनाई यह है कि वह अनुभवगम्य है तथा उन्हें व्यक्ति को अपने हृदय के अंतरतम गहराइयों में अनुभव करना पड़ता है।

सर आर्थर एडिंगटन के शब्दों में, “भौतिकी के जगत् में हम परिचित जीवनरूपी नाटक का छायाचित्रिय अभिनय देखते हैं। जैसे कोहनी की छाया मेज की छाया पर टिकी होती है, वैसे ही मसी की छाया कागज की छाया पर प्रवाहित होती दीख पड़ती है। भौतिक विज्ञान का सम्बन्ध छाया जगत् से है, इस तथ्य की स्पष्ट अनुभूति आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्षों में एक है।” महान् वैज्ञानिक भी अब स्वीकार करने लगे हैं कि विज्ञान को भी युक्ति के साथ-साथ निष्ठा की अपेक्षा होती है। ठीक यही बात भारत में हमारे महान् आध्यात्मिक गुरु मानते हैं कि धर्म को निष्ठा के साथ-साथ युक्ति की शक्ति भी चाहिए। लेकिन यह श्रद्धा सामान्य विश्वास से भिन्न है, जो बिना किसी ठोस साक्ष्य के किसी भी बात को सहज रूप में स्वीकार कर लेता है।

जब लोग भक्ति को सम्यक् रूप में समझेंगे, तो उन्हें स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि यह एक विज्ञान है और किसी भी अन्य भौतिक विज्ञान की भाँति यह युक्ति और श्रद्धा दोनों पर आधारित है। ऐसी स्थिति में ही हम विश्व में सच्ची भक्ति को गतिशील आध्यात्मिकता के रूप में फलते-फूलते और वर्तमान कोलाहलपूर्ण, आडम्बरयुक्त और गतिहीन धार्मिकता अथवा

सीमान्त-स्थित धार्मिकता युक्त सांसारिकता को क्रमशः क्षयमाण होते हुए पाकर कुरुक्षेत्र को धर्म क्षेत्र में परिवर्तित कर पाएंगे।

जहाँ विज्ञान के इस्तेमाल के उपकरण बुद्धि, तर्क और प्रयोग है, वहीं भक्ति के उपकरण अन्तःप्रेरणा, श्रद्धा और विश्वास हैं। विज्ञान भौतिक जगत् का एक वस्तुपरक विवेचन करता है जबकि भक्ति पारलौकिक जगत् और अन्तर्जगत् का सब्जेक्टिव विवेचन करता है। किसी प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे युक्तियों द्वारा जो अप्रत्यक्ष पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान होता है, वह अनुमान से होनेवाली प्रमाणवृत्ति है।

चित्त की प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की होती है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन के 1/7 में कहा है- 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-ये तीन प्रमाण हैं। इन्द्रियाँ के साथ बिना किसी व्यवधान के सम्बन्ध होने से जो भ्रान्ति तथा संशयरहित ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव से होनेवाली प्रमाणवृत्ति है और यही भौतिक विज्ञान के अध्ययन का आधार है, जबकि इसकी गम्भीर सीमाएँ हैं; क्योंकि इसके द्वारा सिर्फ प्रातिभासिक सत्य ही मिलता है।

स योजत उरूगायस्य जूतिं

वृथा क्रीडन्तं भिमिते न गावः ।

परीणसं कृणुते तिग्म शृंगो

दिवा हरिर्ददृशे नक्तभृञ्जः ।

सा.उ.अ.च. मंत्र 3

इस मन्त्र के द्वारा वेद का उपदेश है कि हे मनुष्यों! हाथ, पैर, गुदा, लिंग, रसना, कान, त्वचा, आँखें, नाक और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वरभक्ति को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करना झूठ ही एक खेल करना है; क्योंकि परमात्मा देश कालातीत, शब्दातीत, नामरूपातीत एवं इन्द्रियातीत है। अनाहत नाद से सम्पन्न परमात्मा

को, जिसकी ज्योति जो नाना प्रकार के तेज प्रकट करती है उसका भक्त समाधि द्वारा साक्षात् करता है।

गुलरि तरु समान तव माया।

फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया।।

रोम रोम ब्रह्माण्डमय,

देखत तुलसी दास।

बिनु देखे कैसे कोऊ,

सुनि माने विश्वास।।

तुलसी सतसई

जब भौतिक विज्ञान सौर जगत् के कुछ ग्रहों, नीहारिकाएँ (Nebulae) एवं Galaxies का ही अध्ययन करने में आज तक असमर्थ है, तो अनेकानेक ब्रह्माण्डों की रचनाओं का अध्ययन भक्तियोग द्वारा ही सम्भव हुआ है जैसा कि अग्रलिखित दृष्टान्त स्पष्ट करता है।

उदाहरणस्वरूप, रावण द्वारा सीता हरणोपरान्त जब श्रीरघुनाथजी विराहाकुल थे, तब भगवान् शिव ने उसी अवसर पर उन्हें नेत्र भरकर देखा और 'जय सच्चिदानन्द जग पावन' कहकर अभिनन्दन किया। इस दृश्योपरान्त सीताजी के मन में बड़ा सन्देह उत्पन्न हो गया और वे ही मन कहने लगीं कि जिस शंकरजी की सारा जगत् वन्दना करता है, उन्होंने एक राजपुत्र को सच्चिदानन्द कहकर प्रणाम किया। यद्यपि भगवान् शिव ने बहुत बार समझाया कि वही मेरे इष्टदेव हैं, फिर भी सतीजी के हृदय में उनका उपदेश नहीं बैठा और तब भगवान् शिव ने सतीजी को परीक्षा लेने को कहा। सती सीताजी का रूप धारण करके उस मार्ग की ओर आगे चलीं जिससे श्रीरघुनाथजी आ रहे थे, तब श्री रघुनाथजी ने सतीजी के वन में अकेले फिरने एवं भगवान् शिव के सम्बन्ध में पूछा एवं सती के कपट को

जान लिया, तब सतीजी वहाँ चलीं, जहाँ भगवान् शिव थे और भगवान् शिव से भी अपनी कपटपूर्ण परीक्षा लेने की विधि छिपा ली। तब भक्ति के संस्थापक भगवान् शिव ने ध्यान कर देखा और सतीजी ने जो चरित किया था सब जान लिया-

तब संकर देखेउ धरि ध्याना,

सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥

धर्मशास्त्रों में दिव्य घटनाओं का सिलसिला उसके मिथकीय स्वरूप के परिपोषण के लिए लगाया गया है, किन्तु उसके भीतर आस्था का घनत्व इतना सुपुष्ट है कि ऐसी घटनाओं को तर्क के सहारे नहीं देखा जा सकता। जैसा विश्वमोहिनी का प्राकट्य और नारद-मोह, मनु-शतरूपा के तप में राम और का प्राकट्य, रामजन्म के समय राम का चतुर्भुज रूप में जन्म लेना और पुनः राजा का बालक हो जाना, अहल्या-उद्धार, सीता का पावक प्रवेश और पावक से प्राकट्य, हनुमानजी का समुद्र लौंघना, सेतुबन्ध प्रकरण, हनुमानजी के दिव्य कर्म, यथा संजीवनी लाना, समुद्र लौंघना, लंका जलाना एवं लंका विजयोपरान्त श्रीराम का अयोध्या वापसी होते ही उनका असंख्य रूपों में प्रकट होकर सबसे क्षणमात्र में यथा योग्य मिलना (अमित रूप प्रगटे तेहि काला, जथा जोग मिले सबिह कृपाला) (सा.च.मा.अयो.का.पू.), मत्स्य अवतार, कच्छप अवतार एवं नरसिंह अवतार आदि। गोस्वामीजी का मत है कि

राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी

मतहयार असि सुनहु सयानी।

आत्मनिष्ठ प्रणाली का संयोग यदि वस्तुनिष्ठ प्रणाली के साथ हो जाय, तो वैज्ञानिकों के लिए भी भौतिक जगत् के सत्यान्वेषण, सहज और अधिक प्रभावकारी सिद्ध होगा एवं प्रेरणास्रोत का कार्य करेगा।

मानव की चित्तवृत्तियाँ चंचल और अनियन्त्रित है। ये रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श की ओर दौड़ती हैं। इसका आवश्यक है, तभी जीवन सार्थक दिशा प्राप्त कर सकता है। भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में स्पष्ट लिखा है कि व्यक्ति की इन्द्रियाँ नियन्त्रित एवं संयमित होती है, देवता भी उसकी वन्दना करते हैं।

भक्ति-योग आत्मानुशासन का भी संचार करेगा जो कि किसी भी अर्थ व्यवस्था के सिर्फ आर्थिक ही नहीं बल्कि समग्र विकास की नींव (Foundation) है जैसा कि महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन के प्रथम सूत्र में ही “अथ योगानुशासनम्” कहकर इसकी महत्ता व्यक्त की है। आत्मानुशासन का अर्थ है, अपने शरीर, इन्द्रियों, वाणी एवं मन पर अनुशासन। आत्मानुशासन का हृदय है- शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी और मन को अकरणीय कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देना। मोह कर्म के उदय से व्यक्ति विषय एवं कषय में प्रवृत्त होता है। दृढ़ संकल्प हमारे विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आचार्य तुलसी ने एक घोष दिया था, ‘निज पर शासन फिर अनुशासन’ परानुशासन की अहमता है- आत्मानुशासन, जो अपने पर अनुशासन कर सकता है, वही औरों पर भी अनुशासन कर सकता है। भगवान् बुद्ध साधना में अवस्थित थे, बोधि प्राप्त नहीं हुई। एक दिन उन्होंने संकल्प किया- बोधि प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा, चाहे मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा, अस्थि और मांस नष्ट हो जाय। यह संकल्प शक्ति एवं आत्मनुशासन की पराकाष्ठा है।

जब भक्ति साम्राज्य में धर्ममय रथ का सत्य और शील (सदाचार) ध्वजा और पताका, शौर्य और धैर्य पहिए, बल, विवेक? दम और परोपकार रूपी घोड़े, क्षमता, दया और समतारूपी

डोरी से रथ में जुड़े हुए, वैराग्य ढाल, संतोष तलवार, दान, फरसा, बुद्धि प्रखण्ड शक्ति, विज्ञान कठिन धनुष, निर्मल और अचल मन तरकस, शम, यम और नियम विभिन्न बाण और ईश्वर भक्ति ही चतुर सारथी होगा, तब अहंकार काम, क्रोध, लोभ दम्भ मद, आदि आसुरी सम्पदा का प्रतिस्थापन कर्म योग, भय का सर्वथा अभाव, अंतःकरण की पूर्ण निर्मलता एवं उपरति, इन्द्रियों का दमन, मनोनिग्रह, तेज, क्षमा, धैर्य, चित्त की चंचलता का अभाव, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव एवं 'सियाराम मय सब जग जानी' की आदर्शतम स्थिति होने के फलस्वरूप 'सर्वभूतहिते रताः' की भावना की स्थापना होगी, जिसके फलस्वरूप अर्थ और काम के अमर्यादित आचरण से उत्पन्न समस्या का समाधान होगा। साथ ही श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, समरसता, कर्तव्य-निष्ठा, ईमानदारी का संचार करने, भ्रष्टाचार-शून्य विश्व का निर्माण करने, वर्तमान में विश्व की सकल घरेलू (G.D.P.) का आधा से अधिक सैन्यबल पर खर्च किये जाने के प्रतिशत में भारी कटौती कर विश्व की अर्थव्यवस्थाओं का तीव्रतर आर्थिक विकास करके विश्वशान्ति की स्थापना करने एवं विश्व के कायाकल्प के लिए भक्तियोग रूपी अमृता विद्या रामबाण का कार्य करेगी।

पहले पहल श्रीरामकृष्ण ने ही यह सिद्ध करके दिखाया कि समस्त धर्म एक नित्य सत्य की ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग हैं। परमात्मा एक है, किन्तु उसके अनेक रूप हैं। विभिन्न सम्प्रदाय उसकी पूजा विभिन्न नामों और रूपों से करते हैं। वह साकार भी है और निराकार भी और दोनों से परे निर्गुण भी है। उसके नाम और रूप होने पर भी वह बिना नाम और बिना रूप का है।

महात्मा ईसा मसीह ने सूली पर चढ़ते समय भी भगवान् से प्रार्थना की प्रभो! इन लोगों को क्षमा कीजिए। ये बेचारे नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं। और अन्त में कहा- 'हे पिता! यह आत्मा तुम्हें अर्पण है।'

मीराबाई के आचरण से तंग आकर स्वजन इन्हें नाना प्रकार के कष्ट देने लगे। भगवान् का चरणामृत कहकर विष भेजा गया, मीरा उसे चरणामृत समझकर पी गयी- भगवान् की कृपा से विष भी अमृत हो गया। पिटारी में साँप भेजा गया। मीरा खोलती है तो देखती है कि वह तो शालीग्रामजी की मूर्ति है, जिसे मीरा ने हृदय से लगा लिया।

निज प्रभु में देखिं जगत,

का सन करहीं विरोध।

भक्ति भाव से समर्पित होने के कारण कर्तव्य के प्रति उदासीनता समाप्त होगी तथा Devotion to duty (कर्मयोग) स्वतः उत्पन्न होगा। कर्म में जब भक्ति जुड़ जाती है तो कर्म आसक्ति रहित हो जाता है और तब ऐसे कर्म के सम्पादन होने से कर्म में अहंकार भाव नहीं होता। इस प्रकार का कर्म मानव धर्म के निर्वहन के लिए किया जाता है एवं परमात्मा को अर्पित होता है जिसमें समर्पण होता है, चाहे वह समाज, राष्ट्र या विश्व के लिए हो इससे कार्य करने की प्रेरणा (Incentive to work) स्वतः उत्पन्न होगी। तभी तो कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने आसक्त अर्जुन को "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि" (2/47) का उपदेश दिया था। कार्य संस्कृति के बहाल होने के फलस्वरूप प्राथमिक, द्वितीयक एवं तृतीयक सभी क्षेत्रों में आदर्शतम उत्पादन होगा, जिससे गरीबी, बेरोजगारी, तस्करी, काला धन आदि समस्याओं को दूर करने में आशातीत सफलता

मिलेगी। जबतक व्यक्ति लोभ या भय से कार्य करेगा तब तक अर्थव्यवस्था का उत्पादन स्तर (Production frontier) आदर्शतम नहीं हो सकता। भक्तियोग से कर्तव्य करने की प्रेरणा की उद्भावना से अर्थव्यवस्था 'From each according to his capacity, to each according to his needs' के आदर्शतम सिद्धान्त पर क्रियाशील हो सकेगा।

6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा तथा 9 अगस्त 1945 को नागासाकी पर गिरनेवाले अणु बमों ने जो भयंकर नरसंहार किया है वह मानवता के इतिहास में एक काला दस्तावेज बनकर चिरकाल के लिए स्थापित हो गया है। विज्ञान ने विश्व शान्ति के लिए एक निषेधात्मक कारण उत्पन्न कर दिया है। विज्ञान के भयंकर शस्त्रों से लैस हो जाने पर भी दिन-रात आशंका और भय से घिरे रहनेवाले विश्व के बड़े राष्ट्र अपनी तमाम धमकियों एवं चेतावनियों के बावजूद विश्वशान्ति को भंग नहीं कर पाते, क्योंकि उसमें आत्मनाश का खतरा भी है, जबकि भक्तियोग विज्ञान के विनाशकारी परिणामों एवं परिस्थितिकीय सन्तुलन स्थापित करने में मील का पत्थर साबित होगा।

अधम ते अधम अधम अति नारी

तिन्ह महाँ मैं मतिमंद अधारी।

कह रघुपति सुनु भानिनी बाता।

मानहूँ एक भगति कर नाता।।

अर्थात्, भगवान् श्रीराम जब माता शबरी के आश्रम में पधारे, तो शबरी ने अपने लिए तीन बार अधम शब्द का प्रयोग करते हुए अपने को मन्दबुद्धि बताया। तब श्रीराम ने कहा- हे भामिनि! मैं तो केवल एक भक्ति ही का सम्बन्ध मानता हूँ। जाति, पाति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता- इन सबके होने पर भी

भक्ति-शून्य मनुष्य जलहीन बादल जैसा शोभाहीन दिखाई पड़ता है। अतः जब जीव का ब्रह्म से एकमात्र नाता भक्ति का है, तो विशेषकर आज के दैहिक, दैविक एवं भौतिक ताप से सन्त्रस्त संसार में भक्तियोग का प्रचार-प्रसार परमावश्यक है। जैसे वीररस को युद्ध के समय प्रयाण-गीत से जगाया जाता है एवं स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय देशभक्ति की दुहाई देकर आन्दोलनकारियों को प्राण न्योछावर करने के लिए प्रेरित किया जाता है, इसी तरह आज के श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम से शून्य संसार में भक्ति-भावना को जगाकर ही मानव को विश्व कल्याणार्थ उत्प्रेरित किया जा सकता है।

श्रीमद्भागवत में आता है- जैसे भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ ही तृष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति ये तीनों एक साथ हो जाते हैं, वैसे ही भगवान् का शरणागत हो भजन करने से भजन के प्रत्येक क्षण में ही भगवान् के प्रति प्रेम, प्रभु के स्वरूप का अनुभव और विषय-वासना से वैराग्य, तीनों की एक साथ प्राप्ति होती है।

वानरी-वृत्ति एवं वैडालिकी-वृत्ति से भी भक्ति की महत्त्व सिद्ध होता है। विडाल का शिशु स्वयं निश्चेष्ट रहता है, वानर शिशु स्वयं ही माँ को सावधानी से पकड़ लेता है। इसी तरह भक्त केवल भगवान् के आश्रित रहता है एवं उनकी योगक्षेम का भार परमात्मा ही ग्रहण करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भविष्य में आनेवाली पीढ़ी के बच्चे पूछेंगे- परमात्मा का परिभाषा क्या है, जैसे श्वेताश्वतरोपनिषद् में पूछते हैं- किं कारणं ब्रह्म' को कौन जानता है?

अधिक से अधिक संख्या में अपनी इच्छाओं भी पूर्ति के द्वारा सन्तुष्टि को अधिकतम बिन्दु

तक ले जाने का प्रयास एक मृग-मरीचिका हैं। उपभोगतावाद, भौतिकतावाद का प्रत्यक्ष परिणाम है। प्रदर्शन प्रभाव, रुचियों के आर्थिक आधार, फैशन, प्रौद्योगिकी, दूरदर्शन के विज्ञापन और पारितोषिक प्रदान करने की योजनाओं ने इसे और तीव्र बना दिया है।

समय बीतने के साथ विश्व की प्रकृति अधिकाधिक भौतिकवादी होती जा रही है। जैसे आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही है और उनका स्वरूप सामूहिक होता जा रहा है, वैसे-वैसे मनुष्य की निर्णय लेने की प्रक्रिया पूर्णतः बाजारवादी होती जा रही है और 21वीं शताब्दी में इस प्रवृत्ति के और अधिक प्रबल होने की सम्भावना पैदा हो गई है। बढ़ती आकांक्षाओं की स्थिति के सिलसिले में समाज की बुनियाद आम तौर पर पूजा, सम्पत्ति और आय के संचयन पर आधारित होती जा रही है। समाज किसी न किसी रूप में मुद्रा के पीछे दौड़ रहा है। गोल्डरश सिद्धान्त के परिचालन के कारण एक नववणिक्वाद का अम्युदय हो गया है। सारे नैतिक मूल्य आर्थिक और मौद्रिक मूल्यों में बदलते जा रहे हैं। और तो और, व्यक्तिगत सम्बन्ध भी मुद्रा, पण्य और बाजार की दृष्टि से परिभाषित किये जा रहे हैं। आर्थिक भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, रिश्वतखोरी, तरस्करी, मैच फिक्सिंग भारतीय समाज के पहचान बनते जा रहे हैं। एडम स्मिथ का 'आर्थिक मनुष्य' आधुनिक समय में और अधिक मजबूत होकर सामने आया है। विकसित देशों में भी Income trap की अवधारणा क्रियाशील हो गई है, जैसा कि विश्व के सर्वाधिक सम्पन्न देश अमेरिका और जापान में सर्वाधिक आत्महत्याओं की घटनाओं से परिलक्षित होता है। ये सारे घटनाक्रम भौतिकवाद के प्रत्यक्ष उपपरिणाम हैं जहाँ यह मानकर चला जा रहा है कि अधिक से अधिक इच्छाओं की पूर्ति होने से अधिक सुख की प्राप्ति होती है। लेकिन महात्मा

गाँधी ने ठीक की कहा था कि मनुष्य ऐसा पक्षी है, जो जितना ही अधिक खाता है, उतना ही अधिक और खाना चाहता है और फिर भी असन्तुष्ट रहता है।

वर्तमान पीढ़ी के जीवन में केवल काम और अर्थ है, धर्म और मोक्ष नहीं। जबकि भविष्य पीढ़ी के जीवन में धर्म एवं मोक्ष का भी समावेश होगा। चूँकि भक्ति के संश्लेष से मनुष्य की जीवन-धारा बदल जाती है, इसलिए भक्तियोग वर्द्धन, उन्नयन एवं स्थापन के फलस्वरूप सात्त्विक धारा बदल जाती है, इसलिए भक्तियोग वर्द्धन, उन्नयन एवं स्थापन के फलस्वरूप सात्त्विक धारा के प्रवाह से गाँधीजी के रामराज्य की स्थापना होना लगभग तय है।

दैहिक, दैविक, भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि व्यापा।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
चारिउ चरण धर्म जग माहीं।
पूरि रहा सपनेहुँ अध नाहीं।।

मानस, उत्तरकाण्ड, 21

अर्थात्, जिस प्रकार रामराज्य में दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसी को नहीं व्यापते, सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करते, सभी स्वधर्म का पालन करते एवं धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, दया, दान) से परिपूर्ण रहते, उसी प्रकार भक्तियुग की पुनःस्थापना से विश्व में एक बार पुनः रामराज्य की स्थापना हो सकती है। जब तुलसीदासजी के शब्दों में विश्व भक्तियोग द्वारा 'सीयाराम मय सबजग जानी' की स्थिति उत्पन्न होगी तो विश्व बन्धुत्व, विश्वशान्ति एवं अंतर्राष्ट्रीय एकता स्वतः स्थापित हो सकेगी।

दर्शनविभाग

संजय गाँधी स्मारक महिला महाविद्यालय, शेखपुरा



कर्म का अध्यात्म और अध्यात्म का कर्म

◆ डी० आर० ब्रह्मचारी



अध्यात्म के बिना कर्म उकठाकाठ है, छीलते जाइए, छीलते जाइए काठ ही काठ। इसके विपरीत, कर्म के बिना अध्यात्म 'फायरिंग' है, सारी गोलियाँ समाप्त हो जाएगी, हाथ कुछ नहीं आएगा। भारतभूमि कर्म और अध्यात्म के विरल संयोग की भूमि रही है। वस्तुतः, यही मौलिक भारत है भी। ध्यातव्य है कि कर्म और अध्यात्म एक दूसरे के प्रतिलोम हैं भी नहीं, एक तत्त्व की ही 'मैटर'। यही बात है, धर्म और विज्ञान के साथ भी। दृष्टिभेद की बात है।

चकमकाहट आग में ही होती है, अध्यात्म भूत में ही होता है। परे नहीं, देखने भर की आवश्यकता है-

ज्यों तिल माहीं तेल है,
ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में,
जाग सकै तो जागि॥

खोजनेवाला पुष्पस्थित वास को खोजकर ही दम लेता है। अज्ञानी मृग भला क्या जाने कि कस्तूरी स्वयं उसी की नाभी में है-

तेरा साईं तुज्झ में,
ज्यों पुहुपन में वास ।
कस्तूरी के मृग ज्यों,
फिर-फिर सूँधे घास ॥

घास को सूँघकर कस्तूरी के उद्गम को पाना कहीं संभव है?

शारीरिक ज्ञान, मानसिक ज्ञान के साधा - साधा आध्यात्मिक ज्ञान की आज के परिप्रेक्ष्य में महती आवश्यकता है। चाहे छल-छंद कर्म का पर्याय और आडंबर अध्यात्म का नमूना क्यों न बन गया हो! आग जलाकर प्यास बुझाने का प्रयास!

माहं अन्यकृतेन

भोजनम्- दूसरों के परिश्रम का अपभोग करना मेरे लिए उचित नहीं, कहने वाला ऋग्वेद के सम्पूर्ण दूसरे मण्डल- तैंतालीस सूक्त और चार सौ से ऊपर मन्त्रों का द्रष्टा गृत्समद, प्रातिभ ही नहीं, अद्भुत पराक्रमी और उत्कट परिश्रमी भी था। वह कपास का अनुसन्धाता था। बुनने का अभ्यासी था- बुनने के क्रम में तारों के टूटने पर

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है, **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**

अर्थात्, अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति ईमानदारी से सिद्धि मिलती है। कर्म की महिमा का यह सुन्दर उद्घोष है। परवर्ती सन्तों ने भी न केवल सिद्धान्त के रूप में बल्कि व्यवहार में इस कर्म को अध्यात्म के रूप में ग्रहण किया है। सन्त रैदास, सन्त कबीर, सेन नाई, आदि मध्यकालीन सन्तों ने इसे अपनाया। सन्त कबीर के सन्दर्भ में कर्म का अध्यात्म और अध्यात्म का कर्म यहाँ प्रस्तुत है। -सं०

वह उसे जोड़ता। साथ ही, हिसाब भी करता जाता था, गुणन विधि का अविष्कारक। परावृत्त किरण विज्ञान, प्राणिविज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन का सूक्ष्म स्रोत। बुनाई वह ब्रह्मवृत्ति से करता था। बनते समय वह सतत प्रार्थना करता— जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊँ, तो उसका तन्तु टूटने न दो— मा तन्तुश्छेदी वयतः धियं मे। सन्त विनोबा ने इसपर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया है।

परस्पर अध्यात्म और कर्म का विलयन हमें जुलाहा कबीर में दृग्गोचर होता है। 'ताना-भरनी' करते-करते उसने शरीरस्थ ताना-भरनी को भी सहज ढूँढ निकाला—

इंगला-पिंगला ताना-भरनी

सुखमन तार से बिनी चदरिया ।

आठ कँवल दस चरखा डोले,

पाँच तत्त्व गुण तीन चदरिया ।

साई को सियत मास दस लोगै,

ठीक-ठीक के बिनी चदरिया ।

कबीर आजीविका से कौलिक थे। बुनना उनके जीविकोपार्जन का व्यवस्था था। बाहर का बुनना देखते-देखते वह भीतर की बुनावट- Texture भी देखने लगे। उनका एक पद है—

माधव चले बुनावन माहा ।

जग जीते जाइ जुलाहा ॥

नवगज-दस गज उन्नीसा।

पुरिया एक तननाई ॥

सात सूत है गंड बहूतरि

पाट लगी अधिकाई ।

तुलह न तोली, गजह न मापी,

पहजन सेर अढ़ाई ।

नौ द्वार, दस इंद्रियों के अर्थात् उन्नीस गज का पुरिया यानी ताना, ताना। सात सूत— सप्त धातु—पित्त, रक्त, मांस, बात, मज्जा, अस्थि तथा वीर्य से युक्त इसमें बहुत-सी गाठें लगाईं। बहत्तर

नाड़ियों के रेशमी धागे— गंड से शैशवावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक उसके पाट का विस्तार हुआ। यह न तो तुल्य है, न ही माप्य। साथ में ढाई सेर— दस पाव — इस इंद्रियों का पायेय भी है, न इससे तनिक कम, न इससे तनिक अधिक ही। न्यूनाधिक होने पर झंझट जो खड़ी हो सकती है।

कबीर यहीं पर ठहरते नहीं। इस वृत्ति का बहाना बनाकर पाखण्ड करनेवाले का भी 'ऑपरेशन' कर डालते हैं—

बहे बहाए जाते थे, लोक वेद के साथ ।

पैरा में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ ।

कबीर की प्रतिभा को आडम्बर से सख्त विरोध था, वह चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो। इसके लिए तो वह सतत प्रज्वलित अग्निकुण्ड थे। उनका एक पद है—

मेरे गुरु ने मँगाये वेदन भेद।

पहली भिक्षा अन्न की लाना।

गाँव-नगरिया पास न जाना।

हिंदू-तुर्की छोड़ के लाना;

लाना झोली भड़के। मेरे गुरु ने

दूजी भिक्षा मांस की लाना;

जीव-जन्तु के पास न जाना।

जिंदा-मुर्दा छोड़ के लाना,

लाना हाँड़ी भर के। मेरे गुरु ने

तीजी भिक्षा जल की लान;

कुआँ- बावड़ी पास न जाना।

ताल-तलैया छोड़ के लाना;

लाना तूँबी भर के। मेरे गुरु ने

चौथी भिक्षा लकड़ी लाना;

रूख-वृक्ष के पास न जाना।

गीली-सूखी छोड़ के लाना;

लाना गट्ठर भर के। मेरे गुरु ने

कहत कबीर सुनो भाइ साधो,
यह पद है निरबाना।
जो इस पद का अर्थ लगावे;
वो हो चतुर सुजाना। मेरे गुरु ने

गुरुकुल के आश्रम में रहकर विद्यार्थी वर्षों वेद का सांगोपांग अध्ययन करते थे। वहीं वे भिक्षाटन-वृत्ति से अपने भोजन की समस्या का समाधान करते थे। कालान्तर में तो यह वृत्ति आडम्बर बनकर रह गई। कबीर ने कटाक्ष किया है यहाँ। किन्तु साधना की वास्तविकता को प्रतीकों के माध्यम से उजागर किया है।

गुरु ने यहाँ वेद का भेद मँगा रखा है—रहस्योद्भेदन। अन्न मँगाया है, मांस की भिक्षा मँगाई है, जल मँगाया है, लकड़ी मँगाई है, पर इनका अन्न, मांस, जल तथा लकड़ी बाह्य नहीं, अंतःसाधना की सामग्रियाँ हैं। साधकों के लिए यह सुगमता से बोध ग्राह्य है। अन्य लोगों के लिए यह दुरुह प्रतीत होता है, उलटबाँसी है।

कबीर का अन्न गेहूँ, चना, मटर अथवा बाजरा नहीं, वह तो भीतर का 'चैतन्यमूलक प्रकाश' है। स्वाभाविक है कि उसको प्राप्त करने के लिए गाँव-नगर अथवा हिन्दु-तुर्क के पास जाने की आवश्यकता नहीं। स्वयं शरीर के भीतर है।

दूसरी भिक्षा मांस की है। शर्त है, न तो जीव-जन्तु, के पास जाना होगा न जिन्दा अथवा मुर्दा लाना होगा, परन्तु लाना होगा पूरी हाँडी भरकर। साधना के क्षेत्र में 'खेचरी मुद्रा' की चर्चा है, जिसके अन्तर्गत 'जिहवा को उलटकर तालु में प्रविष्ट' कराया जाता है। यही हठयोगियों के यहाँ मांस है। न तो कोई जीव-जन्तु है, न जिन्दा अथवा मुर्दा।

तीसरी भिक्षा जल की है। प्रतिबन्ध है कुआँ-बावली, ताल-तलैया के निकट नहीं जाने

का। लेकिन तुबी भी भरी होनी चाहिए। यहाँ संकेत सहस्रदल कमल से निरन्तर क्षरित होनेवाले रस की ओर है। 'रस गगन गुफा से अजर झरै।'

कबीर दास की उलटी बानी।

बरसे कमल भीजै पानी।

अंतिम भिक्षा लकड़ी की तो है, परन्तु रूख-वृक्ष के पास नहीं जाने की पाबंदी है, गीली-सूखी लाने की मनाही है। लेकिन लाना है भरा हुआ गट्टर। यहाँ इन्द्रियों की वृत्ति के निग्रह का संकेत है, चंचलता को पूरी तरह समेट लेने का भाव। योगः चित्तवृत्तिनिरोधः।

यह तो हुई पूरी की पूरी अध्यात्म जगत् की बात, जहाँ कर्म साधन बनकर उपस्थित हुआ है।

विदित है कि कबीर गृहस्थ रहे हैं। दाल-रोटी स्वयं उपार्जन करनेवाले। आत्म निर्भर। परजीवी नहीं। उन्होंने सम्पूर्णता के साथ जीवन जिया है। फलतः सारे दर्दों को निचोड़कर अपनी कविताओं में रूपायित कर दिया है। लगता नहीं कि उनके प्रादुर्भाव के छह सौ वर्ष हो चुके हैं। वह बिल्कुल आज के हैं। जिसने जिया नहीं, भोगा नहीं, उसकी कविताई बेमानी है। बालू की भीत। उनका निम्नलिखित पद सिर्फ उनकी ही पीड़ा को नहीं, जन-जन के दर्द को, उनकी जिल्लत भरी जिंदगी को उजागर करता है। श्रीलाल शुक्ल के शब्दों में— "लगता है कि एक स्तर पर हम जीव की मुमुक्षा का आध्यात्मिक अनुभव ले रहे हैं और दूसरे स्तर पर गाँव के खेतिहर की दुरवस्था पर प्रेमचंद के साहित्य का पन्ना पढ़ रहे हैं। अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाईं।

तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम ।

नगर एक जहाँ जीवधर महता

बसे जु पंच किसान ।

नैनों नकटू श्रवनूं रसनूं चंडी
 कह्या न मानै हो राम ।
 गाई कुठाकुर खेत कुनापै
 काइथ खरच न पारै ।
 जोरि जेवरी खेति पसारै,
 सब मिलि मोको मारै हो राम ।
 खोटौ महतौ विकट बलाही
 सिर करू दम का पारै ।
 बुरी दिवांन दादि नहिं लागै,
 इक बाँधै इक मारे हो राम ।
 ध्रमि राइ जब लेखा मांग्या,
 बाकी निकसी भारी ।
 पाँच किसानां भाजि गए हैं,
 जीवधर बाँध्यो पारी हो राम ।
 कहै कबीर सुनहु रे संतो,
 हरि भजि बाँधौ येरा ।
 अबकी बेर बकसि बंदे कूँ,
 सब खत करौ निबेरा ।

-क०ग्रं० : मा० प्र० गु० : 20/278

स्वामी! अब मैं इस गाँव में नहीं बसना चाहता हूँ। क्योंकि तुम्हारे वसूलनेवाले नेगी बड़े चतुर हैं। एक नगर में जीवधर महता बसता है। वहाँ पर पाँच कृषक बसते हैं। वे नेत्र, नाक, कान, जीभ आदि इन्द्रियाँ मेरा कहा नहीं मानतीं। गाँव का ठाकुर खेत का नाप करता है और कायस्थ का खर्च देना असम्भव है। वह रस्सियों को जोड़कर गलत ढंग से खेत में फैलाता है। सब मिलकर मुझे मारते हैं। महता खोटा है। बलाही-बलवान् विकट हैं। उसके सामने कोई विद्रोही होने का दम नहीं रखता। दीवान तो और बुरा है। सुनवाही तो होती ही नहीं है। एक बाँधता है तो एक मारता है। जब धर्मराज ने हिसाब माँगा तो मेरे जिम्मे भारी बकाया निकला। पाँचो किसान

भाग गए। अब जीवधर को बाँधने की बारी है। कबीर कहते हैं, सन्तो! सुनो। हरि-भजन का बेड़ा बाँधो। भवसागर पर करने का यही उपाय है। अबकी बार यदि बंदे का प्रभु, क्षमा कर दो तो वह सारा बकाया चुका देगा।

अरविन्द त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है, शायद भक्तिकाल में वे ऐसे पहले भक्तकवि हैं, जिन्होंने श्रम-जीवन को काव्य और अध्यात्म दोनों से जोड़ा।

कर्म और अध्यात्म के सफल विनियोक्त के रूप में विलक्षण व्यक्तित्व हैं कविवर रैदास जूते गाँठने के बावजूद जिन्होंने उसे अपनी सीमा नहीं मानी-

प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती ।

जाकी जोति बरै दिन-राती ।

प्रभुजी, तुम मोती हम धागा ।

जैसे सोने मिलत सुहागा ।

साधना की ऐसी ही दीप्ति हमें सेना, सधना, पीपा, धाना, नानक, दादू, सहजोबाई आदि में दिखाई पड़ती है, अध्यात्म और कर्म का ऐक्य; जीवन और साहित्य का ऐक्य, आदर्श और कला का ऐक्य।

मनुष्य उर्ध्वोन्मुख मेरुदण्ड युक्त प्राणी है, जो संकेत करता है- उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत बिना इसे साधे जीवन में शान्ति दुर्लभ है।

नकूथान, मोहनपुर,
 समस्तीपुर-848101



जीवन का अन्तिम सोपान

◆ कैलाश त्रिपाठी

शास्त्रों ने धराधाम को मृत्युलोक की मृत्यु से डरते हैं। मृत्यु का भयावह रूप हमारे संज्ञा दी है। कब, कहाँ और कैसे यह अज्ञात है। अन्तःकरण में न जाने कब से बैठा हुआ है। मृत्यु

शिशु, बालक व युवा भी असमय दुनियाँ छोड़ जाते हैं। मृत्यु धीरे से, चुपचाप आती है और जीवन का हरण कर ले जाती है। महाभारत के युद्ध में भगवान् कृष्ण ने कर्ण से जब उसकी इच्छा पूछी तो उसने कहा- 'मेरे पार्थिव शरीर को ऐसे स्थान पर जलाना जहाँ उसके पहले किसी का दाह संस्कार न हुआ हो।' भगवान् के द्वारा 'ऐसा ही होगा' कहने पर, कर्ण ने प्राण छोड़ दिए। भगवान् श्रीकृष्ण

उसके शरीर को जलाने हेतु जहाँ भी ले गये, आकाशवाणी हुई- यहाँ तो पूर्व में कितने ही शरीरों का दाह-संस्कार हो चुका है। अन्त में श्रीकृष्ण ने अपनी हथेली पर उसका दाह-संस्कार किया। अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी ही श्मशान है। जीवन का अन्तिम चरण है मृत्यु। मृत्यु की इस अवश्यम्भाविता के बाद भी सभी

“मृत्यु के समय अन्नमय पंचतत्त्वात्म शरीर की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जीवात्मा (परा प्रकृति) सूक्ष्म शरीर का आश्रय लेकर इस शरीर से पृथक् हो जाता है। शरीर में व्याप्त प्राण सिमटकर हृदय में आ जाते हैं। सर्वप्रथम अग्नि तत्त्व शरीर का त्याग करता है, जिससे मनुष्य की वाक्शक्ति समाप्त हो जाती है, परन्तु मन के क्रियाशील रहने से नेत्रों में जीवन्तता बनी रहती है। मन के पृथ्वीतत्त्व में समाहित होने पर व्यक्ति चेतना-शून्य होकर कोमा में चला जाता है। फिर भी प्राण शरीर में रहते हैं। श्वास टूटने लगती है। इसी समय प्राण सूक्ष्मशरीर का रूप धारण कर बुद्धि सहित आत्मा शरीर के दस द्वारों में से किसी एक द्वार से बाहर निकल जाता है। यही जीवन का अन्तिम सोपान है।”

-इसी आलेख से

के नाम पर सभी भयाक्रान्त हो जाते हैं। समाज में मृत्यु की चर्चा करना अप्रिय ही नहीं, अपशकुन का भी सूचक माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति मृत्यु की आशंका, आभास अथवा अपनी निश्चितता हेतु आगे की व्यवस्थायें अपने निकटस्थ आत्मीय परिजन को बताना चाहे, तो उसे कोई सुनना नहीं चाहता। मृत्युभय का प्रमुख कारण जिजीविषा है। मनोवैज्ञानिक भी इन्द्रिय सुख व सांसारिक भोगों को

भोगने की इच्छा को मृत्युभय का कारण मानते हैं। हिन्दु धर्मशास्त्रों के अनुसार अन्त समय चार प्रकार के दुःख होते हैं। (1) विश्लेषज दुःख (2) मोहज दुःख (3) अनुतापज दुःख (4) दृश्यादर्शनज दुःख।

'महाभारत' का उद्घोष है कि समस्त

संग्रहों का अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोगों का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।

सर्वे क्षयान्ता निचयः वतनान्ताः समुच्छयाः।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(महाभारत)

उदय और अवसान, संयोग और वियोग तथा जन्म और मृत्यु एक ही प्राकृतिक नियम के दो रूप हैं। बुद्धिमान् जब इन्हें भाव से स्वीकारते हैं। गीता मृत्यु को जन्म से पूर्व की स्थिति की भाँति अव्यक्त कहकर शोक न करने का परामर्श देती है- “अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिवेदना” तथा आत्मा को अमर और नानात्व रूपात्मक पंच तत्त्विय शरीर को नश्वर मानते हुए कहती है कि- जैसे पुराने वस्त्रों को त्यागकर मनुष्य दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नया शरीर प्राप्त करता है।^१ आत्मा को अविनाशी बताते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि- आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती और वायु सुखा नहीं सकता^२; क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और निसन्देह अशोष्य है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।^३ अभिप्राय यह है कि शरीर नाशवान् है। जीवन है तो मृत्यु निश्चित है ‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च।’ जो प्राणी जन्म लेता है, समय आने पर, उसे मरना ही पड़ता है और जो मरता है, उसे जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार सनातन धर्म पुनर्जन्म को मानता है। सनातन धर्म के अतिरिक्त अन्यो ने भी मृत्यूपरान्त जीवन की अवधारणा को अपने-अपने तरीके से स्वीकार है। यूनान के वैज्ञानिक पाइथागोरस का मानना था कि मृत्यूपरान्त जीवन होता है। सन्त सुकरात का विश्वास था कि मृत्यु पुनर्जन्म का द्वार है। मरणोपरान्त जीवन को मनोवैज्ञानिक भी स्वीकारने

लगे हैं। पूर्वजन्म पर अनुसन्धान किए गये। परामनोवैज्ञानिक व्यक्तियों को सम्बोधित करके उनको उनकी आयु के पीछे लेते गए और अन्त में जन्म से पूर्व की बातों को पूछा गया, तो जाँच करने पर उनकी बातें सही पायीं गईं। पूर्वजन्म की पुष्टि में अनेक उदाहरण व घटनायें सुनने देखने को मिलती हैं। पद्म-पुराण में उल्लेख है कि अकाल मृत्यु से आक्रान्त मनुष्य की रक्षा करने में औषधि, तपश्चर्या, दान और माता-पिता एवं बन्धु-बान्धव आदि कोई समर्थ नहीं है।^४ स्कन्द पुराण में बताया गया है कि जीवात्मा इतना सूक्ष्म होता है कि जब वह शरीर से निकलता है, उस समय कोई मनुष्य उसे अपने चर्म-चक्षुओं से देख नहीं सकता और यही जीवात्मा अपने कर्मों के भोगों को भोगने के लिए एक अंगुष्ठ पर्व परिमित अतिवाहिक सूक्ष्म शरीर धारण करता है।^५ जो माता-पिता के शुक्र-शोणित बननेवाले शरीर से भिन्न होता है।^६

भारतीय मनीषा ने परलोक के इस दर्शन पर विशद विवेचना प्रस्तुत की है। हमारे शास्त्रों में, पुराणों में मृत्यु का स्वरूप, मरणासन्न व्यक्ति की अवस्था और उसके कल्याण के लिए अन्तिम समय में किए जाने वाले कृत्यों आदि का विशद निरूपण हुआ है। विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण के अनुसार केवल मनुष्य ही मृत्यु के पश्चात् एक अतिवाहिक सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर धारण करते हैं। और वही शरीर यमदूतों के द्वारा याम्यपथ से यमराज के पास ले जाया जाता है, अन्य प्राणियों का नहीं। वे तो तत्काल दूसरी योनि में जन्म पा जाते हैं। केवल मनुष्य को अपने शुभ और अशुभ कर्मों का अच्छा-बुरा परिणाम इहलोक और परलोक में भोगना पड़ता है-

मनुष्यः प्रतिपद्यन्ते स्वर्गं नरकमेव वा ।

नैवान्ये प्राणिनः केचित् सर्वे ते फल भोगिनः॥
शुभानाम शुभानां वा कर्मणां भृगुनन्दन ।
सञ्चयः क्रियते लोके मनुष्यैरेव केवलम् ॥
तस्मान् मनुष्यमस्तु मृतो यमलोकं प्रपद्यते ।
नान्यः प्राणी महाभाग फलयोनौ व्यवस्थितः॥

(विष्णु धर्मोत्तर 02/113/4-6)

गरुड़-पुराण में मृत्यूपरान्त की विभिन्न गतियों का सांगोपांग विशद वर्णन मिलता है। प्राणियों के शरीर में चेतना का संचार, वायु द्वारा होता है। जिसे प्राणुवायु कहा गया है। प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर चेतना शून्य हो जाता है। प्राणवायु के दस रूप हैं। जिनमें प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान पाँच प्रमुख तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त व धनंजय नामक प्राणवायु गौण हैं। हृदय स्थित प्राण वायु श्वास-प्रश्वास के माध्यम से आक्सीजन की प्राप्ति व उत्सर्ग द्वारा पाचन क्रिया को संचालित करता है, जिससे ऊर्जा प्राप्त होती है। उदान वायु मल-मूत्र बाहर करता है। व्यान नाडियों का संचालन करता है और यही सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से प्रथक करता है। नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त व धनंजय नामक प्राणवायु द्वारा क्रमशः छींक, संकोचन, भूख, प्यास, नींद और पोषण की क्रियाओं का संचालन होता है। स्थूल शरीर पाँच महाभूतों आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी से निर्मित बताया गया है। प्राण वायु के निकल जाने पर यह पाँचों तत्त्व उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।

मृत्यु के समय अन्नमय पंचतत्त्वात्म शरीर की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जीवात्मा (परा प्रकृति) सूक्ष्म शरीर का आश्रय लेकर इस शरीर से पृथक् हो जाता है। शरीर में व्याप्त प्राण सिमटकर हृदय में आ जाते हैं। सर्वप्रथम अग्नि तत्त्व शरीर का त्याग करता है, जिससे मनुष्य की

वाक्शक्ति समाप्त हो जाती है, परन्तु मन के क्रियाशील रहने से नेत्रों में जीवन्तता बनी रहती है। मन के पृथ्वीतत्त्व में समाहित होने पर व्यक्ति चेतना-शून्य होकर कोमा में चला जाता है। फिर भी प्राण शरीर में रहते हैं। श्वास टूटने लगती है। इसी समय प्राण सूक्ष्मशरीर का रूप धारण कर बुद्धि सहित आत्मा शरीर के दस द्वारों में से किसी एक द्वार से बाहर निकल जाता है। यही जीवन का अन्तिम सोपान है।

सन्दर्भ :-

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
२. नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनः क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
(गीता 2/23)
३. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
(गीता 2/24)
४. नौषधं न तपो दानं न माता न च बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ॥
(पद्म 02/66/127)
५. तत्क्षणात् सोऽथ गृह्णाति शरीरं चातिवाहिकम्।
अङ्गुष्ठपर्वमात्रं तु स्वप्राणैरेव निर्मितम्॥
(स्कन्द 01/2/50/62)
६. वाश्वग्रसारी तद्रूप देहमन्यत् प्रपद्यते ।
तत्कर्मयातनार्थं च न मातृपितृभ्रवम् ॥
(ब्रह्म 0 214/46)



साहित्यकार
जनता महाविद्यालय
अजीतमल (औरैया)
उत्तरप्रदेश- 206121

कुण्डलिनी : पिण्ड से ब्रह्म तक

◆ प्रो. श्रीकान्त प्रसून

कुछ लोगों ने कुण्डलिनी को स्त्री शक्ति के सहारे अधिक से अधिक कार्य सम्पादित माना है, जिसे शिवशक्ति में जाकर मिलना है। करना।

सती की तपस्या यही थी कि उसे शिव की प्राप्ति हो।

कुण्डलिनी एक छुपी हुई गोपित शक्ति है। यह प्रत्येक जीव और पदार्थ में अणु या परमाणु रूप में विद्यमान है। मानवेतर की बात कौन कहे, अधिकांश मानव तक को पता नहीं कि ऐसी अनन्त ऊर्जावाली शक्ति उनमें अन्तर्निहित है। सर्वाधिक स्त्रियों-पुरुषों में

यह ऊर्जा जीवन-पर्यन्त निश्चल, निष्क्रिय पड़ी रह जाती है।

योग का उद्देश्य ही होता है, इस शक्ति को जागृत करना, सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित करना और सर्वाधिक ज्ञान प्राप्त करना और इसी

“शरीर में दो मूल गाँठ होते हैं। दोनों जाँघों के ऊपरी हिस्से के मिलने पर मूल गाँठ होता है। यह गाँठ गुदाद्वार से बारह अंगुल (वितस्ति यानि बारह अंगुल की लम्बाई का माप) अथवा एक बीता (फैलाए हुए अंगूठे और कनिष्ठिका के बीच की दूरी के बराबर) ऊपर अवस्थित है। इसकी चौड़ाई एक अंगुल के बराबर है।

इसे कई शब्दों के माध्यम से कई रूपों में जाना जाता है। इसे ‘कन्द’ कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ जड़ या गाँठ होता है। ऐसा इसलिए कि यही मूलग्रन्थि है और नाभि के बगल में नीचे की ओर अवस्थित है। यहीं से कमल की नली के समान निकली नाड़ी से अपनी माँ के शरीर से हम बँधे होते हैं और जन्मोपरान्त इसी नाड़ी को काटकर हमें माँ से अलग किया जाता है। फलतः नाभि के पास की इस कुण्डलिनी शक्ति को माँ का दर्जा दिया जाता है।” -इसी आलेख से

इस कुण्डलिनी शक्ति का संयोग जब शिवशक्ति से, जो परम चेतना है, हो जाता है तब ज्ञान की सारी गुथियाँ खुल जाती हैं, अज्ञान का अंधेरा मिट जाता है और अन्तस् एक दीर्घ आलोक से भर जाता है। तब यह परा-अपरा की सम्मिलित शक्ति बन जाती है।

यह विचित्र शक्ति शरीर में ही निश्चेष्ट पड़ी रहती है। जागृतावस्था में यह चित्त, विचार और बुद्धि से परे जाकर भी कार्य सम्पादित करती है।

यह दूसरे मूल के रूप में जानी जाती है। शिव-शक्ति प्रथम मूल है। दोनों मूल मिलकर महाशक्ति बनते हैं-सर्जक, रक्षक और संहारक। यह मूल है और ऊर्जा का अजस्र स्रोत है - सुप्तावस्था में भी निरन्तर प्रवाहित। उसका स्वतः प्रवाह केवल देह

तक सीमित होता है। उसे या स्वयं को जागृत कर देहातीत भावों में उसे प्रवाहित कराया जाता है, तब शरीर की अशरीरी शक्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं। उन सबकी सर्जन और रक्षण क्षमता का यथोचित तीव्र विकास होता है। उन ग्रन्थियों और भावों में जागृति, जीवन्तता और अमरता लाकर मानवेतर तक में व्याप्ति भरना इस स्रोत का सहज धर्म है।

इस शक्ति का जितना अन्तःप्रवाह उर्ध्वमुखी होता है, मानव की मानवेतर में और मानवेतर के प्रति एकात्मभाव और स्नेहासक्ति बढ़ती है। इस बोध का विकास 'परम' तक होता है— यह आन्तरिक दृष्टि—बोध है। बाह्य—दृष्टि से देखें तब 'सर्वात्म' तक व्यापकता बढ़ जाती है। सबकी आत्मा अपनी लगती है। सबमें अपनत्व बढ़ जाता है।

मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति हो या न हो किन्तु सबसे अपनत्व बढ़ जाय— केवल इस एक उद्देश्य के लिए कुण्डलिनी—शक्ति जागृत करने के क्रम में आनेवाली बाधाओं और परेशानियों को उठाया और झेला जा सकता है। क्योंकि इस अपनत्व में आनन्द होगा— सहज आनन्द और परम आनन्द।

सभ्यता का विकास, नैतिकता की श्रेष्ठता और समरसता—सामंजस्य का फैलाव इसी अन्तःशक्ति से सम्भव होगा। यह ब्रह्माण्डीय चक्र है— सदा सकारात्मक। संहारक या नकारात्मक होता या दिखता है, तब सर्जना के लिए ही। इसकी नकारात्मकता हमें तोड़कर निष्प्राण और समाप्त करती है। ऊर्जा की सकारात्मकता पुनः सृजन करती है। सकारात्मक श्रेष्ठता देती है। यही उत्थान है, पुनरुत्थान है। विकास का यही सूत्र है। हर नया निर्माण विगत निर्माण से थोड़ा श्रेष्ठ होना चाहिए।

इस भाव और आन्तरिक क्षमता के विकास से समूचे संसार में कमियों के बावजूद सर्वाधिक आनन्द, सर्वोत्तम खुशियाँ, मानवीय अच्छाईयाँ तथा कर्मरत और संघर्षरत शान्ति प्राप्त होगी, व्याप्त रहेगी और इस तरह भविष्य में मानव की श्रेष्ठता और अनवरत वर्तमानता अक्षुण्ण रहेगी।

कन्फ्यूसियस भी जब 'जेन' के प्राप्ति की बात करते हैं, तब किसी न किसी तरह उनका उद्देश्य और अर्थ भी कुण्डलिनी होती है; क्योंकि दोनों से ही प्रेम, अच्छाई, दिलेरी, नैतिक बल, वैचारिक दृढ़ता और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होती है। इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने कुछ मार्ग बताये हैं। वे सारे मार्ग कुण्डलिनी के मार्ग हैं। वहाँ भी स्व—निर्माण, स्व—विकास और आत्मा से मिलन तक की चर्चा है और प्रेरणा है। वे भी 'स्व' की समाप्ति पर बल देते हैं। उनका 'ली' भी विभिन्न मार्गों से और विविध उपायों से 'सर्व' को जानने—समझने की चेष्टा है। सबके लिए कुछ न कुछ करना है और सबसे कुछ—न—कुछ किसी न किसी रूप में प्राप्त करना है। वह भी मूर्त से अमूर्त की प्राप्ति है। शारीरिक संरक्षण भी देना है और आध्यात्मिक ज्ञान भी प्राप्त करना है। उसे वे विश्वव्यापी नैतिक और सामाजिक गुण और दायित्व मानते हैं। उनके भी 'जेन' (Jen) में ली (Li); सिआवो (Hsiao) और यी (Yi) सम्मिलित है। यही उनका स्वर्गारोहण का साधन है। इसी जेन की सतत साधना से आदर्श और पूर्ण अच्छाई की प्राप्ति होती है।

किन्तु भारतीय योग और दर्शन में कुण्डलिनी की जितनी स्पष्ट और विशद व्याख्या—विवेचना है, वह कन्फ्यूसियस में नहीं है।

वस्तुतः इस श्रेष्ठता की साधना किसी न किसी रूप में हर देश—काल में दृष्टिगोचर होती

है और भारतीय मनीषियों की 'सर्व' की सत्कल्पना को श्रेष्ठतम प्रमाणित करती है। 'व्यष्टि' साधना और श्रेष्ठता से 'समष्टिगत' साधना और श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

इसे समझना आसान है, जानना आसान है। इस ऊर्जा के वेग या प्रवाह को सह पाना, रोक पाना कठिन है। उससे भी कठिन है, उस वेग को जगा देना। वह ज्ञान और शक्ति का महा अंधड़-बवंडर होता है; वह समुद्र का प्रलय ज्वार-सा होता है।

उसे जानने, जगाने, सम्हालने, प्राप्त करने और उपयोग करने के लिए उच्चतम और श्रेष्ठतम व्यक्तिगत चरित्र, दृढ़ता, एकाग्रता और कर्म की आवश्यकता है।

वह क्षमता योग से प्राप्त होती है या हो सकती है। योगासन से देह और आत्मा को सशक्त और योग्य बनाया जाता है। इस साधना से शक्ति ग्रहण कर कुण्डलिनी-साधना की ओर अग्रसर हुआ जाता है। उस कुण्डलिनी को कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है।

शरीर में दो मूल गाँठ होते हैं। दोनों जाँघों के ऊपरी हिस्से के मिलने पर मूल गाँठ होता है। यह गाँठ गुदाद्वार से बारह अंगुल (वितस्ति यानि बारह अंगुल की लम्बाई का माप) अथवा एक बीता (फैलाए हुए अंगूठे और कनिष्ठिका के बीच की दूरी के बराबर) ऊपर अवस्थित है। इसकी चौड़ाई एक अंगुल के बराबर है।

इसे कई शब्दों के माध्यम से कई रूपों में जाना जाता है। इसे 'कन्द' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ जड़ या गाँठ होता है। ऐसा इसलिए कि यही मूलग्रन्थि है और नाभि के बगल में नीचे की ओर अवस्थित है। यहीं से कमल की नली के समान निकली नाड़ी से अपनी माँ के शरीर से हम बँधे होते हैं और

जन्मोपरान्त इसी नाड़ी को काटकर हमें माँ से अलग किया जाता है। फलतः नाभि के पास की इस कुण्डलिनी शक्ति को माँ का दर्जा दिया जाता है।

चूँकि नाड़ियों को घुमाकर गाँठ दिया जाता है, इसलिए इसका आकार सर्पकुण्डल सा हो जाता है, इसलिए इसे कुण्डलिनी के नाम से जाना गया। नाड़ियों के गाँठ का लघु शिरा नीचे की ओर रखा गया है, जो सर्प के फन जैसा लगता है। वह दबा हुआ, सुप्त होता है, उसे ही जागृत कर ऊपर की ओर लाया जाता है। इसे ही जागृत कुण्डलिनी-शक्ति के रूप में जाना जाता है।

गाँठ का दूसरा शिरा छितराकर फैलता जाता है। असंख्य नाड़ियाँ सीधे ऊपर की ओर चली जाती हैं। ऊपर जाने का मुख्य मार्ग मेरुदण्ड है। गर्दन के पास एकत्रित होती है फिर सिर में फैलती जाती हैं। कुछ नाड़ियों, विशेषकर कुण्डलिनी की एक विशिष्ट छुपी हुई नाड़ी कई स्थानों से होती हुई, जुटती, गाँठ लगाती, विलग होती हुई, अन्य नाड़ियों के संग मस्तिष्क में ऊपर तक आ जाती है। वहाँ इन सबको बाँधने के लिए एक और गाँठ लगाया जाता है, जो शीर्ष का गाँठ होता है। इसे ही गुम्फित कर पूँछ के आकार में सिर में दाबकर रख दिया गया है। यह गाँठ जटा के आकार का होता है, फलतः इसे शिवशक्ति माना गया है।

इन्हीं दोनों गाँठों के आधार पर किसान बीज की सुरक्षा हेतु उसे पुआल में बाँधते हैं। उसे 'मोजर' कहा जाता है। इकट्ठे पुआल में एक गाँठ देकर पुआल को छितरा दिया जाता है। फिर उसमें बीज रखकर चारों से स्थिर बन्द, इकट्ठा करते हुए ऊपर में पुआल का ही एक और

गाँठ लगा दिया जाता है। ठीक उसी तरह जॉइंटों के जोड़ पर एक गाँठ है। फिर सभी अवयव रखे गये हैं और पुनः उन्हें शीर्ष पर गाँठ में बाँध दिया गया है।

बीच में भी कई गाँठ हैं, जिन्हें आकारिक समानता के कारण चक्र या कमल कहा जाता है। एक नाल-सी तन्तु से ये सब आपस में जुड़े हुए हैं। प्रत्येक गाँठ पर नाड़ियाँ मिलती हैं और अलग होती हैं।

जीवन का संपूर्ण खेल इस मूल और शीर्ष में चलता है। हमारी विकास-यात्रा के सारे प्रतिफल मूल से शीर्ष तक स्वभेदानुसार विभिन्न गाँठों में बाँधकर रख दिये गये हैं। जिस या जिन गाँठों को हम खोल देते हैं, पूर्वजन्मों या पूर्वजों के जन्मों की वे या वैसी शक्तियाँ हममें व्याप्त हो जाती हैं। उतने ही हम शक्तिसम्पन्न और श्रेष्ठ होते जाते हैं। इन गाँठों को खोलना, कमलों को पार करना या चक्रों को भेदना अपने ही मूल तक पहुँचना है, अपने ही 'स्व' को देखना है और अबतक के अपने ही 'सर्व' से मिलना है।

उस शीर्ष की गाँठ या कमल में प्रवेश कर जाना अपने 'सर्व' में प्रवेश है। वही सर्व है। अपना सबकुछ, इसलिए सबका सबकुछ। वह परम है, परम शक्ति है, परम सत्ता है। मूल से मिलकर पूर्ण हो जाता है। यह पूर्णता बाहर नहीं अन्दर है, अतएव हम सदा पूर्ण हैं। बस, उस पूर्णता को जानते नहीं। उस पूर्णता को जागृत नहीं करते, उस पूर्णता को प्राप्त नहीं करते। प्राप्त करते ही ब्रह्म हो जाते हैं; क्योंकि शीर्ष का वही गाँठ, वही लोक, वही ज्ञान ब्रह्म है। वह ब्रह्मलोक है। वही ब्रह्म है। उसी में पहुँचकर हम ब्रह्म हो जाते हैं।

वहाँ तक पहुँचने और पहुँचाने में केवल कुण्डलिनी की ऊर्जा ही समर्थ है और उसी से मार्ग भी है।

जो विशेष रहस्यात्मक नाड़ी उस मूल को शीर्ष से जोड़ती है उसी से कुण्डलिनी की जागृत ऊर्जा सूक्ष्मशक्ति के रूप में या आलोक के रूप में आगे बढ़ती है। प्रत्येक गाँठ पर अत्यधिक शक्तिशाली होती हुई अन्तिम सहस्रदल कमल में पहुँचती है।

हर चक्र पर अनन्त ज्ञान है, अनन्त शक्ति है, जिससे संवर्द्धन प्राप्त होता है। अन्तिम चक्र में 'सर्व' शक्ति प्राप्त हो जाती है। अपनी ही आत्मा का मूल और शीर्ष जुड़ जाता है। वही आत्मा 'सर्वात्मा' हो जाती है।

यही परम ज्ञान है, परम मिलन है, 'परम' आत्म' का मिलना है, परमात्मा से मिलन है, 'परम' 'आनन्द' है, परमानन्द है। उसके पश्चात् जानने और करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। यही ब्रह्म हो जाना है।

कुण्डलिनी योग को पूर्णतया विद्युतीय प्रवाह के रूप में भी जाना जा सकता है।

कुण्डलिनी में ही विद्युत् का उत्पादन (generate) होता है। उसे अनेक वाहक तार सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाते हैं। इसे शरीर में विभिन्न अंगों में पहुँचने और वर्तमान रहनेवाले ताप के रूप में भी देखा जा सकता है। सम्पूर्ण शरीर में अनेक स्थानों पर वितरक (transformers) लगे हैं। तारों के जमाव (junctions) हैं। भाँति-भाँति के कार्य करनेवाले स्वीच और बल्ब हैं। कई तरह का प्रकाश, कई तरह की ऊर्जा, कई तरह का ताप नियन्त्रित, संचालित, संगृहीत और क्रियाशील रहते हैं। ये सारे कार्य सहज, सर्वदा सम्पादित होते रहते हैं।

किन्तु, कुण्डलिनी एक विद्युतीय क्षेत्र है, जिसका सहज प्रवाह निम्नगामी है। उस संचरण (connection And circulation) को वहाँ से (मूल बन्ध लगाकर) विच्छेद कर दिया जाता है। उसके प्रवाह को उच्चगामी बनाया जाता है। ऊपरी तारों से सम्बन्ध (Link) जोड़ने के बाद स्वीच को ऑन किया जाता है। केवल अधिकृत साधक ही स्वीच ऑन कर सकते हैं।

गलती या कमजोरी से विद्युतीय प्रवाह अगर दोनों तरफ हो गया, तब साधना तो गई ही, साधक भी गया। अर्द्धविक्षिप्त या विक्षिप्त तो हो ही जाना है, मृत्यु तक हो सकती है। इन्हीं सतर्कताओं के लिए, इन्हीं दुर्घटनाओं से बचने के लिए योग के अनुपम अनुशासन की आवश्यकता होती है और इसके लिए बार-बार कहा गया है कि ये कार्य सुयोग्य गुरु के संरक्षण में ही किए जाने चाहिए।

स्वीच ऑन करने के बाद उस ताप, उस ऊर्जा, उस विद्युत का प्रवाह महसूस किया जाता है। सामुद्रिक प्रवाह-सी गति होती है। शायद ट्रान्सफॉर्मर से चलनेवाली ग्यारह हजार बोल्ट से भी अधिक। उसे सम्भालना, सहना होता है क्योंकि यह अविराम ऊपर नहीं चढ़ती, अलग जंक्सन निकट ही है। दूरी कम है। ताप और ऊर्जा अनन्त। इसे बार-बार 'अनन्त' शब्द से ही प्रतिपादित किया गया है। उस आलोक में बहुत कुछ मिलता भी है। उन उछलती सामुद्रिक लहरों के बीच अधिक देर नहीं रहा जा सकता है, उसे अधिक देर नहीं सम्भाला जा सकता। अगला द्वार खोलना, अगले जंक्सन से ऊपर का तार संयुक्त करना आवश्यक होता है।

किन्तु, वहाँ पहरा होता है। उस द्वार को खोलने, उस स्वीच तक पहुँचने आदि की क्षमता

होनी चाहिए, वरना द्वार नहीं खुलेगा। वहाँ दूसरा साम्राज्य है, जिसमें प्रवेश के लिए पारपत्र चाहिए, मुहरबन्द स्वीकृति चाहिए, वैसी शक्ति और श्रेष्ठता चाहिए।

अगर क्षमता है और द्वार खुल गया या मिल गया, तब ऊर्जा आगे बढ़ेगी। नहीं मिलने पर उसे मूल में वापस लाकर शान्त कर देना होगा। अगर ऐसा नहीं हुआ, तब शॉर्ट सर्किट के-से भयंकर परिणाम सामने आते हैं।

हर एक जंक्सन चक्र या कमल के नाम से जाना जाता है और हर ऊँचे चक्र या कमल में प्रवेश उतना ही कठिन और कष्ट-साध्य है। सफल होने पर वरदान भी अनन्त है। फलतः साधक मानता नहीं। प्रत्येक कमल का आनन्द, आलोक और प्राप्ति भिन्न है। हर जंक्सन पर कठिनाइयाँ बढ़ती हैं और वेग भी बढ़ जाता है।

हर जंक्सन पर नया कनेक्सन लेना पड़ता है, तब विद्युत का प्रवाह ऊपर या उधर जा पाता है। 'विशुद्धाख्य' तक की यात्रा पूरी कर लेने या वहाँ तक विद्युतीय प्रवाह को कनेक्ट कर लेने के बाद प्रचण्डता, कठिनाई समाप्त हो जाती है। वहाँ तक का कनेक्सन बराबर बनाया जा सकता है। इच्छानुसार वहाँ तक की यात्रा की जा सकती है।

ऊपर के दो कमलों में जाने के लिए अति कुशलता, अति सात्त्विकता, अति प्रवीणता और अतिसूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो गई है, अनन्त दैवी शक्तियाँ मिल गयी हैं, किन्तु उसके पश्चात् 'सूक्ष्मतर' की आवश्यकता है। बाद के कनेक्सन के लिए विद्युतीय कार्य में अध्यक्षीय कुशलता प्राप्त साधक की आवश्यकता है।

प्रौसेस वही है, बस तकनीक महीन हो जाता है। वहाँ अनन्त तारों का अनन्त जंगल है

उसमें अपने एक 'विशिष्ट' तार को खोजकर कनेक्सन देना है। वहाँ आकाश झिलमिलाता है। विश्व खिलखिलाता है। प्रदीप्त प्रकाश चौंधियाता रहता है। वैसे में आकाशीय ताराओं की संख्या को पार करनेवाले विद्युतीय तारों की अनन्तता से अपना विद्युतीय सम्बन्ध जोड़ लेना सामान्य कार्य की श्रेणी में कभी नहीं आ सकता। आन्तरिक अनन्त ऊर्जा का प्रवाह और बाह्य व्यापक ऊर्जा का दबाव सब झेलना होता है।

वहाँ आत्मिक चेतना ही एकमात्र सहायिका होती है। वहाँ दुनिया के सभी विद्युत उत्पादक क्रियाशील कारखानों से एकाएक संबद्ध हो जाना है।

वह कनेक्सन जुट जाने के बाद सारा ब्रह्माण्ड आत्मिक आँखों के समक्ष होता है। ब्रह्माण्ड की सारी विद्युतीय शक्ति प्राप्त हो जाती है। उस 'अनन्त आलोक' में प्रदीप्त 'अनन्त ब्रह्मलोक' है। यह मानव मस्तिष्क की अनन्तता है, जो उस अनन्त को अपने में समाहित किए हुए रहती है।

वैसे उच्चतम वोल्टेज के विद्युत के गमन-प्रवाह आदि के लिए जितनी शक्ति के तार चाहिए, अगर साधक के पास उस संकल्पित दृढ़ता का तार है तब वह सफल होगा।

किन्तु जो उस विद्युत को नहीं जानते, इस सांसारिक विद्युत् से भय खाते हैं उनके मस्तिष्क में या कल्पना में किसी रूप में भी वह विद्युतीय ऊर्जा नहीं अँट पायेगी, जो इस मानव-शरीर में मूल से ब्रह्माण्ड तक व्याप्त है या पिण्ड से ब्रह्म तक व्याप्त है।

हिरण्यगर्भ

जहाँ ध्यान कम जाता है, जिसकी चर्चा सबसे कम की गई है, वही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह कहकर किसी अन्य तत्त्व के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। केवल उसकी

महत्ता को बढ़ाने और उस ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

बीज का महत्त्व नहीं घट सकता। बीज के दोनों दलों में किसी का भी महत्त्व कम नहीं होगा, किन्तु बीज को धारण करनेवाले और सुरक्षित रखनेवाले खोल या छिलके का महत्त्व कम क्यों होगा ? पिता महत्त्वपूर्ण है, माता की भी महत्ता है, मगर माता जन्म देने में सफल मात्र इसलिए होती है कि उसकी नाभि के नीचे 'गर्भाशय' है। वह गर्भाशय जीव नहीं है, जीवन नहीं है, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि वह जीव को धारण करता है, उसी के अन्दर जीव सुरक्षित रहता है, पलता है और परिपक्व होकर जन्म लेता है।

अण्डा फूटता है, खोल निष्क्रिय बेकार हो जाता है; किन्तु उस खोल की अनुपस्थिति में अंडा कैसा? जीव कहाँ? जीवन कैसे?

धान कूटकर चावल निकाल लिया जाता है, भूसा फेंक दिया जाता है। लगता है, उसमें कोई तत्त्व नहीं, किन्तु उस भूसा में भी बहुत कुछ है। बहुत उपयोग है उसका। कई कार्यों में वह सहायक होता है। उसे जब जलाया जाता है तब निरन्तर मन्द ताप देता है। वही चावल को धारण करनेवाला है। बेकार नहीं, महत्त्वपूर्ण है।

वही हिरण्यगर्भ है, जिसकी सृष्टि पहले हुई। इस 'पहले' शब्द पर विवाद-प्रतिवाद सब सम्भव है, किन्तु कई मान्यताओं के अनुसार उसकी सर्जना पहले हुई। वही शून्य था। वही शून्य बढ़ता हुआ महाशून्य हुआ। उसी महाशून्य में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विराजमान है। वही हिरण्यगर्भ है। यह हिरण्यगर्भ ही गर्भाशय है, जीव का भी और सृष्टि का भी।

यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है, जिसकी वेद में स्तुति की गई है। योगी लोग इसी की

नित्य पूजा करते हैं और संसार में इन्हें ही विभु कहा जाता है; क्योंकि यही जगत् को ही नहीं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करते हैं—

**हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगैस्सम्पूज्यते नित्ये स च लोके विभुः स्मृतः॥**

महाभारत 12/342/96

इसी हिरण्यगर्भ को भगवान् और समष्टि तथा बुद्धि कहते हैं। योगियों के लिए यह अजन्मा (क्योंकि जन्म इसी से सम्भव है) महातत्त्व यानि समष्टिचित्त और समष्टिबुद्धि कहते हैं। यही विरंचि और अज है—

**हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्म तः।
महानिति च योगेशु विरंचिति तथात्यजः॥**

अद्भुत रामायण 15/16

‘हिरण्यगर्भ’ को समझने—पहचानने में परेशानी इसलिए होती है कि छान्दोग्यपनिषद में इसके पुरुष स्वरूप का जो वर्णन है, वह सर्वथा भिन्न है। वह रंग से प्रतिपादित किया गया है। रक्तकर्ण को सुनहला (हिरण्य) मानकर चित्रित किया गया है —

**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो
दृश्यते।**

हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रशाष्वात् सर्व एव सुवर्णः॥

छान्दोग्य 1/6/6

अब यह सुनहरा पुरुष जो सूर्य के अन्दर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी—मूंछों और सुनहले बाल हैं, नखों से अग्रतक सारा ही सुवर्णमय है।

हिरण्यकशिपु का कारा भी कुछ व्यवधान सा लगता है, किन्तु हिरण्य का अर्थ वीर्य या शुक्र भी माना गया है। शिव के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग होता है, उसमें एक ‘हिरण्यबाहु’ भी है। हिरण्यगर्भ का अर्थ ब्रह्मा

माना जाता है और कथा है कि उनका जन्म सोने के अण्डे से हुआ। हिरण्यगर्भ विष्णु को भी कहते हैं और इसे सूक्ष्म शरीर धारण करनेवाली आत्मा भी कहते हैं। हिरण्यरेतस् सूर्य हैं और शिव हैं।

वस्तुतः ये सब हैं। सब इसमें प्रतिपादित और निहित हैं। ये सबके आवरण हैं। सबका स्वरूप निश्चित करते हैं और सबमें अपना स्वरूप—चिह्न रख छोड़ते हैं। **यः ब्रह्मा देवता।**

मुट्टी से जो पिण्ड बनाया जाता है, वही इसका आरम्भिक आकार है। यूरोपीय पद्धति में इसे एक कोशीय माना गया है और उसी का आकार अद्भुत गति से अकल्पनीय वेग से कुछ पलों में ही अनन्त बन गया। किन्तु भारतीय मनीषा इसे सदा दो कोशीय मानती रही है और दो कोशों के बीच में जो विभाजक है, उसे भी अत्यधिक महत्त्व देती रही है। इसी से त्रिवेणी बना है। इस ‘त्रि’ से अनेक बोध है, जो सर्वविदित और सर्वग्राह्य है। चन्द्रतत्त्व ओर सूर्यतत्त्व के बीच अग्नि तत्त्व के महाप्रकाश में महाशून्य की स्थिति बनकर योगीराज पूर्ण हो जाता है—

**किरणास्थ तदग्निस्थं चन्द्रभास्करमध्यगम्।
महाशून्येन यत्कृत्वा पूर्णस्तिष्ठति योगिराट्॥**

उसी का अनन्त विस्तार होता गया और उसका अनन्त खण्ड होता गया। फलतः विस्तार में वह सम्पूर्ण रूप से विद्यमान रहा और खण्ड में भी अंश रूप से और अव्यक्त रूप से जीवित और मूर्त रहा। इसलिए प्रत्येक नींव या पिण्ड में उसकी उपस्थिति मानी गई और प्रत्येक जीव उस विकासशील सर्जना का स्वरूप माना गया। हर पिण्ड ब्रह्माण्ड का ‘संक्षिप्त स्वरूप’ या ‘संक्षिप्त संस्करण’ है—

ब्रह्माण्डेऽयस्ति यत्किञ्चित् तत्पिण्डेऽयस्ति सर्वथा।

जो ब्रह्माण्ड में है। वह पिण्ड में भी है। सभी सूर्य, सभी ग्रह, सभी तारे, सभी आकाश

शरीर में अवस्थित माने जाते हैं। उसी का साक्षात्कार ब्रह्म का साक्षात्कार है। उसे ही लेना ब्रह्म हो जाना है। अन्य सबों की तुलना में कबीर ज्यादा स्पष्ट है—

यह घट भीतर सात समुन्दर

यही में नोलख तारा।

यह आवरण है और इसी में सारा तत्व समाहित है। जीवोत्पत्ति के पश्चात् यह स्वयं समाप्त हो जाता है या अपने मूलस्वरूप को समाप्त कर देता है और उत्पन्न जीव में प्राण तत्त्व या ऊर्जा या शक्ति या प्राणवायु के रूप में विराजमान हो जाता है, जिससे उस जीव विशेष (मानव या मानवेतर) में उसी जैसा अन्य जीवन उत्पन्न करने की समता आ जाती है। यही जीवन की अनवरतता का रहस्य है और इसी से जीन की नश्वरता झलक जाती है कि बीज को बीजरूप में नहीं रहना है। समाप्त हो जाता है किन्तु बीज से उत्पन्न जीव में बीज की सर्जना और अवस्थिति आवश्यक है कि पुनःसर्जन हो। उस हिरण्यगर्भ का प्राथमिक, मूल और शाश्वत सिद्धान्त है। इसे प्रकृति या ब्रह्माण्ड किसी का नियम कहें। तत्त्वतः वही रहेगा।

ऋग्वेद में यह स्पष्ट किया गया है कि हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतों के पति थे। उन्होंने इस पृथ्वी और स्वर्गलोक को धारण किया। उस सुखस्वरूप देव की हम पूजा करते हैं—

**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥**

ऋग्वेद 10/12/1

हमारे ऋषियों के ज्ञान की प्रणाली क्या थी? ज्ञानप्राप्ति का उनका मार्ग क्या था? हजार

वर्ष की गुलामी और असंख्य पुस्तकों के जलाये और नष्ट किए जाने के बाद बलताना सम्भव नहीं है, किन्तु पद्धति जो भी रही हो, हमारे पूर्वज सत्य जानते थे। आधुनिक ज्ञान और विज्ञान उसके कहीं आसपास नहीं है। यह अलग चर्चा और विवाद का विषय है कि उन ऋषियों ने लेखन में समर्थ अभिव्यक्ति रखते हुए भी अस्पष्ट रूप से लिखकर इसे रहस्यात्मक क्यों रहने दिया? हम अर्थ निकालने में असफल हो जाते हैं। अथवा एक अंग या अंश में ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं फलतः सत्य के निकट पहुँचकर भी उसे नहीं जान पाते।

वैसे मेरी अल्प जानकारी के अनुसार सारा संसार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उन्हीं ऋषियों के ज्ञान के सहारे शोध कर रहा है और स्पष्ट रूप से स्वीकार न करते हुए भी उन्हें ही सत्य या असत्य प्रमाणित करने में लगा है। जो भी प्रयोगों से प्राप्त हो रहा है, उसपर अपने नाम का मोहर लगा देता है, जिस नामरूप मुहर से हमारे मनीषी सदा दूर रहे।

सृष्टि के आरम्भिक स्वरूप और क्षणों पर भी शोध और चिन्तन व्यापक रूप से चल रहा है। हमारे प्राचीन तपस्वी ही सहायक होंगे। यह मेरा पूर्ण विश्वास है। चिन्तन-मनन अगर सही दिशा में रहा तब सफलता भी अवश्य मिलेगी। तब 'हिरण्यगर्भ' गोपित नहीं रहेगा। **'हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा।** जगत् के अन्तरात्मा हिरण्यगर्भ ही हैं।

सोलोमन काम्प्लेक्स
मोतिहारी-845401



मिथिला की वैष्णव धारा

◆डा० किशोरनाथ झा



मिथिला में स्मार्त धर्म का प्रचार-प्रसार अधिक देखा जाता है। अतएव यहाँ पञ्चदेवता और विष्णु की पूजा नित्यकृत्य के रूप में मान्य है। मेरी धारणा है कि पञ्च महाभूतों की अधिष्ठाता देवताओं का पूजन ही पञ्चदेवता के रूप में प्रसिद्ध हैं- मनुस्मृति में उक्त है-

एव सर्वाणि भूतानि
पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं
संसारयति चक्रवत्॥
य एष सर्वभूतेषु
पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य
ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥
(मनु. 12/124-124)

परब्रह्म की पञ्चमूर्ति की कल्पना पञ्चभूत के आधार पर यहाँ हुई है- ऐसा प्रतीत होता है।

कालिका-पुराण यद्यपि अर्वाचीन है तथापि परम्परा से प्रचलित विषय ही यहाँ संगृहीत हुआ होगा। यहाँ पञ्चदेवता में शिव, सूर्य, अग्नि, केशव (विष्णु) तथा दुर्गा का उल्लेख है।

शिवं भास्करमग्निं च केशवं कौशिकीमपि।

मनसानर्चयन् याति स्वर्गलोकादधोगतिम्॥
अन्यत्र अग्नि के स्थान पर गणेश को लेकर पञ्चदेवता का उल्लेख हुआ है-
नारायणं गणं रुद्र-

मम्बिकां चैव भास्करम्।

एषु भेदो न कर्तव्यः

यः कुर्यात् विप्रहैव सः॥

मिथिला यद्यपि आरम्भ से शाक्त-परम्परा के क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध रही है। बंगाल एवं आसाम के साथ सांस्कृतिक रूप से इसकी एकता रही है, किन्तु जब हम इस क्षेत्र की समृद्ध वैष्णव परम्परा को देखते हैं और नित्य कर्म के रूप में पंचदेवता से पृथक् विष्णु की पूजा की परम्परा देखते हैं तो सुखद आश्चर्य होता है। डा. गंगानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद के भूतपूर्व प्रोफेसर डा. किशोरनाथ झा ने इस विषय पर प्रकाश डाला है, जो यहाँ प्रस्तुत है। डा. झा प्राचीन न्याय, मीमांसा, आदि प्राच्यविद्या के विख्यात विद्वान् हैं। - सं.

शिष्ट स्वीकृत व्यवहार में मैथिल पञ्चदेवता एवं विष्णु की पूजा करके ही नित्य, काम्य एवं नैमित्तिक कर्म पितृश्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध, पार्वण तथा आम्युदयिक श्राद्ध आदि करते हैं। मनुस्मृति में उक्त धर्म के चार लक्षणों में सदाचार अर्थात् शिष्ट द्वारा परिगृहीत आचार का भी उल्लेख है-

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः

स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः

साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥२॥

अतएव स्मार्तधर्म में

मेरी दृष्टि से तीन बातों का ध्यान अवश्य पालनीय के रूप में रखा गया है। (1) वर्णाश्रम धर्म का परिपालन (2) वेद पुराण तथा आगम में समान निष्ठा (3) ब्रह्म या पराशक्ति के रूप में प्रधान रूप से पञ्चदेवता की उपासना। सन्ध्या-वन्दन,

तर्पण, वैदिक मन्त्र से देवताओं को पुष्पार्पण करने, दशहरा में गंगा-स्नान, रामनवमी, कृष्णाष्टमी, देवोत्थान तथा शिवरात्रि में नित्यव्रत के रूप में उपवास तथा कुमारी-भोजन आदि मैथिल जीवन के सदाचार में रच बस गये हैं, जहाँ वेद, पुराण तथा आगम के विधान देखे जा सकते हैं।

मिथिला में वैष्णव-धर्म का पल्लवन सुदीर्घ से नहीं आ रहा है। महाकाल-संहिता के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है। यह ग्रन्थ मिथिला में बारहवीं शताब्दी में लिखी गयी होगी- ऐसी विद्वानों की धारणा है। यहाँ एक कथा वसुधारा की आती है। वसु महाराज के पास देवता एवं ऋषियों का विवाद उपस्थित हुआ कि उपासना में बलि के रूप में पशु का उपयोग उचित है या फल का। राजा ने ऋषियों के पक्ष में अपना निर्णय दिया कि फल ही बलि के लिए उपयुक्त है। इस असंतुष्ट होकर देवताओं ने कहा कि आज से बलि का भाग जो राजा को मिलता रहा है वह नहीं मिलेगा। प्रसन्न ऋषियों ने कहा कि मैं स्वतन्त्र रूप से आपको बलि दूँगा और उसी दिन से वसुधारा का व्यवहार आरम्भ हुआ जो मिथिला में कन्यादान के एवं उपनयन के समय मातृका-पूजा एवं आभ्युदयिक श्राद्ध के अवसर पर सम्पादित होता है। ठीक इसके विपरीत एक कथा महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में है- वसु उपरिचर का। वसु महाराज आकाश-पथ से ही आते जाते थे अतएव उपरिचर इनके नाम के साथ जुड़ा हुआ है। वहाँ उक्त है कि उपर्युक्त विवाद में पशुबलि का औचित्य उन्होंने अपने निर्णय में कहा अतएव ऋषियों ने क्रोधवश उनको शाप दिया कि आकाश पथ से आप नहीं जा सकते हैं और वह पथ उनके लिए अवरुद्ध हो गया।

खृष्टीय अष्टादश शतक में दो विद्वान् सोदर भाइयों से विवाद हुआ था कि कुल देवता

को पशुबलि दिया जाए या पायस मादक (लड्डू) तथा अपूप (पूड़ी) अर्पित की जाए। अग्रज पशुबलि के पक्षपाती थे और अनुज पायस आदि के। जननी ने निर्णय दिया कि अपनी अपनी रुचि से दोनों भाई पूजा करें; बलि अर्पित करें। फलतः आश्रम विभाक्त हुआ- यह जनश्रुति महामहोपाध्याय सचल मिश्र एवं राधानयन-द्विशती के प्रणेता मोहन मिश्र के विषय से प्रचलित है। दोनों के वंशज हमारे गाँव के निकट सरिसब-पाही में कुलदेवता की पूजा कर रहे हैं। मोहन मिश्र के पुत्र सिद्धिनाथ मिश्र ने घर के निकट लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति की स्थापना करके दिव्य मन्दिर बनवाया और पूजा अर्चना में लगे। कुछ पीढ़ी बाद उस कुल की वधू गोपीनाथ मिश्र की धर्मपत्नी ने राधा-कृष्ण मूर्ति के साथ पञ्चदेवताओं की मूर्ति स्थापित कर मन्दिर बनवाया। महाकाल संहिता में आगमिक उपासना के लिए कहा है-

परस्त्रीसंगमो मद्योपसेवा पाणिघातनम्।
को हेतुनैव जानामि देवी प्रीतिकरा इमे॥

परस्त्री-संगम (लता-साधना) मद्योपसेवा (पात्र-स्थापन) तथा छाग-बलि देवी को प्रसन्न करते लो क्यों करते हैं यह मैं नहीं जानता!

यह रात्रिकृत्य के रूप में वर्णित है। किन्तु स्मार्त द्विज के लिए दिवा-विधि का विधान है-

द्विजादीनां तु सर्वेषां दिवाविधिरिहोच्यते।
शूद्राणां तु तथा प्रोक्तं रात्रिदृष्टं महामतम्॥

(म. का. 3.73 कामकला खण्ड)

सात्त्विकेनैव दुव्येण ब्राह्मणः पूजयेच्छिवाम्

(गु. का. सं., कामकला खण्ड 51)

इक्षुदण्डं च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम्।
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद् बलिम्॥
तत्तत्फलविशेषेण तत्तत् पशुमुपानयेत्।
कूष्माण्डं महिषत्वेन छागत्वेन च कर्कटीम्॥

(का. क. 5/136-37)

सान्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नो चरेत्।

(का.क. 5/135)

यहाँ पूजा, जप, होम, न्यास आदि में किसी भी संप्रदाय या मार्ग से विशेष भेद नहीं होने से सर्वत्र सर्वमान्य है।

लक्ष्मीनाथ गोसाँई (फटकी) तथा रघुवर गोसाँई (तरौनी) वैष्णवागम की रीति से उपासना से रहकर सिद्ध पुरुष के रूप में आज भी व्याप्त है। मकरन्दा के निकट के सिद्ध वैष्णव से (नाम स्मरण नहीं है) सरिसबपट्टी के अवदात श्रोत्रिय लज्जानाथ झा तीनों भाई सौ साल से भी अधिक पहले वैष्णव दीक्षा ली थी। उनका परिवार आज भी उसी रीति से उपासना करते आ रहे हैं। इनके घर पर आज भी रथ-यात्रा उत्सव धूम-धाम से मनाया जा रहा है। मिथिला में राधा-कृष्ण का मन्दिर स्थान स्थान पर देखे जाते हैं। किन्तु भगवती एवं शिव के मन्दिर का प्राचुर्य है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक वैष्णवी दीक्षा नहीं लेने के कारण प्रदोष पूजा शिव की करते हुए बहुत घर देखे गये हैं किन्तु आचार में वैष्णव धर्म का प्रभाव अधिकतम स्थलों में परिलक्षित हुआ है। शालग्राम पर विष्णु की पूजा करके चरणामृत लेकर ही अन्न-जल ग्रहण करना नियम रहा है।

ग्राम -बिट्टो , सरिसब पाही

मधुबनी



प्रपत्र
नियम ८ के अनुसार

धर्मायण

१. प्रकाशन का स्थान : पटना
२. आवर्तिता : त्रैमासिक
३. प्रकाशक एवं मुद्रक
का नाम : प्रो० काशीनाथ मिश्र
क्या भारत के नागरिक है? : हाँ
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)
पता : महावीर मन्दिर,
पटना जंक्शन, पटना-१
४. सम्पादकमण्डल : प्रो० काशीनाथ मिश्र
महन्त उद्धवदासजी
डा० श्रीरंजन सूरिदेव
आचार्य किशोर कुणाल
प्रधान सम्पादक : भवनाथ झा
क्या भारत के नागरिक हैं? : हाँ
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)
पता : महावीर मन्दिर, पटना
जंक्शन, पटना-१
क्या भारत के नागरिक हैं? : हाँ
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)
पता : महावीर मन्दिर, पटना
जंक्शन, पटना-१
५. स्वत्वाधिकार : श्री महावीर स्थान न्यास
समिति, महावीर मन्दिर,
पटना जंक्शन, पटना-१

मैं प्रो० काशीनाथ मिश्र एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

ह० प्रो० काशीनाथ मिश्र

रिपोर्ताज

दाहा, पाण्डेय परसवनी एवं लक्ष्मण कुण्ड



वर्तमान दाहा नामक अक्षय सलिला

जाते हैं। यही कारण है कि इसके निकटवर्ती ग्राम अपने-अपने नामों द्वारा गौरवगान करते हैं जैसे-

स्रोतस्विनी, जो हमारी तीर्थभूमि है, अपनी प्राचीनता के लिए प्रसिद्ध है, इसीलिए इस पुण्यसलिला नदी का नाम दाहा पड़। जिसके पवित्र दर्शन से विशेष अवसरों पर स्नानादि शुभाचरणों से स्थानीय लोग अपने को पवित्र बनाते हैं। दाहा शब्द की व्युत्पत्ति अपनी विशेषता बतलाती है -

“दहनं दाहः” ‘दह् भस्मीकरणे’ इस धातु से ‘घञ्’ प्रत्यय करने के बाद स्त्रीलिंग में ‘टाप्’ प्रत्यय कर

बिहार के गोपालगंज जिला में दाहा नामक नदी बहती है, जो आगे चलकर सरयू में मिल गयी है। कहा जाता है कि श्रीराम की बारात जब मिथिला से अयोध्या के लिए लौटी, तब एक रात्रि के लिए उस स्थान पर रुकी थी। लक्ष्मण ने अपने बाण से एक कुण्ड का निर्माण कर उनके लिए जल की व्यवस्था की। इस लक्ष्मण कुण्ड से ‘दाहा’ नामक नदी निकली है। इन लोक-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में यहाँ डा. व्यासदेव ओझा एवं प्रो. जनार्दन राय की रिपोर्ट यहाँ प्रस्तुत है, जिस आधार पर इस स्थान को बिहार में रामायण परिपथ के अन्तर्गत मानने की परम्परा रही है।

इतिहास और लोक-परम्परा के सन्दर्भ में ऐतिहासिकों के बीच मतभेद के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यदि लोक-परम्परा में विविधता उपलब्ध न हो, तो वह इतिहास-लेखन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है उसे सम्मान देना इतिहास का सम्मान करना है। - सं०

इस नदी के उद्गम स्थान के किनारे बसनेवाला ग्राम ‘पाण्डेयप्रसवनी’ जिसकी संस्कृत व्याकरण के अनुसार व्युत्पत्ति यह होती है- “पण्डा बुद्धिर्यस्यासौ पाण्डेयः” अर्थात्, अत्यधिक कुशाग्र बुद्धि हो जिसकी, उसकी प्रतिभासम्पन्न सन्तति को ‘पाण्डेय’ कहते हैं तथा ऐसी स्वभावतः पावन प्रजाओं को जन्म देनेवाली दिव्य वसुन्धरा, जिसके अति स र ि न क ट स र य श य ा म ल ा (सासामूसा) जैसी व्यापार-वैभव सम्पन्न नगरी अनुपम छाटा

छहराती है, इसे वसुमती की गोद में विराजमान है। आज भी यह अपने गौरवमय अतीत की प्राचीनता का प्रतीक लिए सदानीरा, सरित्प्रवरा

दाहा प्रवाहित होती हुई स्थानीय भूमि को शीतलता और प्रवित्रता प्रदान करती चली आ रही है।

परम्परा के अनुसार यह सुना जाता है कि इस अक्षय सलिला नदी का प्रादुर्भाव यहीं से हुआ है।

श्रीरामजी के अनुज श्री सुमित्रानन्दन सीता की जननी के हृदय में विराजमान पातालगंगा को लोक-कलयाण हेतु बाणफाल के द्वारा बाहर भूतल पर बहा डाला। कहते हैं यह घटना तब घटी, जब देवतात्मा हिमालय की उपत्यका में अवस्थित जनकपुर से निवर्तमान वारातियों की पिपासा आदि आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु गंगा को बुलाया। जब गंगावतरण हुआ, तो जिस तरह हिमालय गर्भस्थ गोमुखी गंगा की क्षीण जलधारा के किनारे-किनारे तपोनुष्ठान हेतु ऋषि-मुनि और तपस्वियों का संकुल बस गया, उसी तरह इसके दोनों उपकूलों पर विभिन्न देवस्थलियाँ बस गयीं। भागीरथी गंगा की जलधारा जिस तरह उद्गम स्थान से लेकर सागर में समाहित होने तक विभिन्न जलस्रोतों द्वारा क्षीण दशा से पीनदशा में परिवर्तित होती हुई ब्राह्मण-क्रोध में भस्मीभूत साठ हजार सगर-पुत्रों को पवित्र करती हुई समुद्र में समाहित होकर आत्मलीन हो गई। उसी तरह, उद्गम स्थान से क्षीण दशा में निकलकर धीरे-धीरे घोड़ाघाट, इटवा, बदरजीमी, सीवान आदि अनेक लोक श्रद्धा का केन्द्रस्थल बनाती हुई सरयू में समाहित हो गयी है।

इसी तरह अनेकानेक एकान्तसेवी महात्मा भविष्यवक्ता सिद्ध पुरुष भी रहते चले आ रहे हैं। ऐसे ही लोगों में से बहुचर्चित और परिचित सिद्धेश्वर श्री तृप्तनाथ बाबा भी थे, जो गोपालगंज के निकट चिराई घर के पास अधिकतर रहकर पुण्यसलिता दाहा के सानिध्य का आनन्द लेते थे।

कई हजार वर्ष पहले यवन शासनकाल में, गौरांग शासनकाल में भी सुप्रसिद्ध नगर सीवान बसा है। कहा जाता है कि विष्णु के नवें अवतार तथागत का पार्थिव हेतु जो यान यहीं निर्मित हुआ। इसलिए भी इस स्थान का नाम 'शवयान' पड़ा, जो भाषाशास्त्र के अनुसार वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय के क्रम से बदलकर सीवान बन गया कुछ लोग कहते हैं कि सीवान से पूरब मेहनार के शिव प्रसिद्ध हैं, जिसे महेन्द्रनाथ कहते हैं, उनकी यात्रा यहीं से हुई थी, इसलिए भी इस स्थान का नाम 'शिवयान' और उससे सीवान पड़ गया।

इस प्रकार, अनेक धर्मिक प्रसंगों का इतिवृत्त लिए मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम की नगरी अयोध्या या साकेत की आलिङ्गिनी दाहा नामक हमारी यह अभीष्ट नदी सागरङ्गमा सरयू से मिलकर धन्य बन गई है। इस तरह, अपनी ही कुक्षि से अनेक जल स्रोतोवहा दाहा के समीप 'पाण्डेपरसवनी' नाम से प्रसिद्ध भू-खण्ड को दिव्यस्थल समझकर श्री वैष्णवाग्रणी सन्त शिरोमणि अनन्त श्री विभूषित बाबा महन्त (महन्थ) श्री रामाश्रय दासजी नागाबाबा, अपने विश्वविश्रुत अयोध्यानाथ दरबार दशरथगद्दी चौबूर्जी मन्दिर रामकोट अयोध्या द्वारा प्रतिष्ठित शीर्षस्थ राम पंचायतन विभूषित श्रीहनुमान मन्दिर की स्थापना की है।

आज यह गोपालगंज की मुख्य पर्यटन-स्थलियों में एक हो गया है। नित्य हजारों की भीड़ लगी रहती है। इस स्थान को लक्ष्मण-कुण्ड नाम से व्यवहृत किया जाय, तो यह यथेष्ट संज्ञा होगी। इस स्थान पर राम विवाह के निवर्तमान वारातियों ने विश्राम किया था। पदाति-यात्रा कई दिनों में सम्पन्न होई होगी। श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है-

बीच-बीच वर वास करि
मग लोगन सुख देत।
अवध समीप पुनीत दिन
पहुँची आई जनेत॥

किसी पवित्र मुहूर्त में बाराती अयोध्या में पहुँचे रामजी के सारे काम लोकहित को सामने रखकर ही हुए हैं। बीच-बीच में अनेक ठिकानों पर सुन्दर आवास बन गये थे। भोजन, वस्त्र, आवास आदि की व्यवस्था श्रीदशरथ और योगीराज जनकजी के द्वारा हर तरह की सुविधाजनक व्यवस्था कर दी गई थी। उन्हीं व्यवस्थाओं में यह दाहा नामक नदी भी उसकी स्मारिका के रूप में आती है। हम चाहते हैं कि यह पवित्र तीर्थस्थली दाहा का जीर्णोद्धार द्वारा सुविधाजनक स्थान पर ध्यान दिया जाय।

डा० व्यासदेव ओझा,
साहित्याचार्य, बी.ए., विद्यावारिधि, पीएच.डी.

२

विश्वासों एवं मान्यताओं के अनुसार दाहा नदी की उपस्थिति, उसमें स्नान-दानादि कर्मों के करने से अन्ततः भक्त इस भव-बन्धन से मुक्ति को प्राप्त करता है।

जैसा कि श्रुति परम्परा से हमें ज्ञात होता है कि भगवान् प्रभु श्रीराम की बारात के लौटने के क्रम में पिपासु एवं बुभुक्षु बारातियों की पिपासा एवं बुभुक्षा को ज्ञात करने के लिए भगवान् श्रीराम के अनुज श्रीलक्ष्मण ने इस दाहा नामक जलधारा का प्रादुर्भाव कराया था।

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है “दह नाम भस्मीकरणम् पाप-पुण्ययोः तद् दाहा इति नाम्ना ख्यातमिति।” अर्थात् इस जलधारा में स्नान करने से पाप एवं पुण्य (संचित एवं संचायमान)

का नाश हो जाता है एवं भक्त तथा साधक भव-बन्धन से मुक्ति की तरफ आगे बढ़ते हैं। ऐसा विश्वास है कि इस जलधारा में स्नान करने से असाध्य रोगों से भी मुक्ति मिलती है, मनोकामनाओं की पूर्ति होती है। यही कारण है कि असंख्य श्रद्धालु समीपस्थ एवं दूरस्थ सभी क्षेत्रों से इस परम पवित्र मुक्ति गंगाधारा में स्नान-दानादि हेतु आते हैं।

यह दाहा नदी (मुक्तिगंगा) अपने उद्गम स्थल से निःसृत होकर घोड़ाघाटा, इटवा, गोपालगंज, थावे, मीरगंज, बदरजीमी आदि स्थलों से होती हुई पवित्र सरयू नदी में विलीन हो जाती है। इसके सम्पूर्ण प्रवहण मार्ग में अनेक स्थलों पर अनेक पवित्र तीर्थ-स्थान विराजमान हैं, जहाँ दूरस्थ ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों से असंख्य भक्त एवं साधकगण स्नान, ध्यान दानादि द्वारा पाप-शमन एवं पुण्य की प्राप्ति करते हैं।

ऐसे ही तीर्थस्थलों में एक है, इटवा धाम। यह धाम पवित्र दाहा नदी के तट पर उत्तर में अवस्थित है। यहाँ सुविशाल रामपंचायतन मन्दिर, गौशाला, हवनकुण्ड आश्रम आदि हैं। इस मन्दिर में सदैव रामनाम का संकीर्तन होता रहता है। समय-समय पर अनेक यज्ञ एवं प्रवचन होते रहते हैं। जिनमें भाग लेकर भक्त एवं साधकगण पुण्य के भागी बनते हैं।

इस पवित्र दाहा नदी (मुक्तिगंगा) के तट पर एक और सुविख्यात प्रसिद्ध तीर्थस्थल है **बदरजीमी**। यह सीवान जनपद में स्थित है। यहाँ श्रद्धालु प्रायः स्नान, दान, पुण्यादि के लिए आते रहते हैं। शुभ मुहूर्त एवं पुण्यतिथि में तो श्रद्धालुओं

की संख्या देखते ही बनती है। यहाँ भी अनेक मन्दिर शोभायमान हैं।

इस प्रकार अनेक छोटे-बड़े तीर्थस्थलों को पवित्र करती हुई यह दाहा नदी अन्ततः सरयू में सम्मिलित होती हुई सागर की अन्त गहराइयों में विलीन हो जाती है, जहाँ भगवान् विष्णु निवास करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दाहा नदी में स्नान, ध्यान, पूजा-पाठादि का द्विविध लाभ है। ऐसे भक्त एवं साधक जो स्नान, ध्यानादि करते हैं, उन्हें मुक्ति मिलती है। जैसे ब्रह्मलीन पूजनीय बाबा तृप्तिनाथजी, बाबा रामशरणदासजी आदि।

ऐसे भक्त एवं साधक जो भौतिक कामनाओं के साथ स्नान, ध्यान, पूजा-पाठादि ठीक उसी प्रकार सम्पन्न करते हैं, उन्हें उन कामनाओं की पूर्ति भी होती है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने “श्रीमद्भगवद्गीता” में कहा है:- “**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥**”

इस दाहा नदी (मुक्तिगंगा) के भौगोलिक क्षेत्र में अनेक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थान हैं, जो इस क्षेत्र के शैक्षणिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के विकास में अपना योगदान दे रहे हैं। ऐसा ही एक संस्थान गोपालगंज है, जहाँ उच्चतर माध्यमिक, स्नातक (कला एवं विज्ञान) आदि कक्षाओं के अतिरिक्त बी.सी.ए., प्रबन्धन विज्ञान, शिक्षाशास्त्री (बी.एड.), पत्रकारिता, फैशन डिजाइनिंग, फंक्सनल इंग्लिश, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के छात्रों के लिए मेडिकल और इंजीनियरिंग की कोचिंग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के दिशानिर्देश में चलायी जा रही है।

इसके अतिरिक्त महेन्द्रदास महिला महाविद्यालय, गोपालगंज, संस्कृत विद्यालय गोपालगंज, सैनिक स्कूल, गोपालगंज, पोलिटेक्निक कॉलेज, गोपालगंज, नवोदय विद्यालय थावे, गोपेश्वर महाविद्यालय, हथुआ, बी.पी.एस. कॉलेज, मोरे, केन्द्रीय विद्यालय, गोपालगंज प्रभृति शिक्षण संस्थान भी इस क्षेत्र की ज्ञान-ज्योति को देदीप्यमान रखने में अपनी-अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। ज्ञान की महत्ता के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं- “नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।”

इस प्रकार बहुविधि पुण्य-मंजरियों से सुसज्जित इस क्षेत्र में स्थित परम-पावन सर्वदा प्रवहमान ऐतिहासिकता एवं आध्यात्मिकता को अपने आप में समेटे इस दाहा नदी (मुक्तिगंगा) के उद्गम स्थल पर परम श्रद्धेय, परमादरणीय, परम् पूज्य, संतशिरोमणि अयोध्या स्थित सुप्रसिद्ध मन्दिर चौबुर्जी के महन्थ श्री श्री रामाश्रयदास (नागाबाबा) जी द्वारा करोड़ों रुपयों की लागत से क्षेत्र की जनता के आध्यात्मिक एवं सर्वविधि विकास के लिए प्रभु श्रीराम के अनन्य भक्त श्री हनुमानजी के मन्दिर सहित अनेक निर्माण कराये जा रहे हैं, जहाँ क्षेत्रस्थ एवं दूरस्थ असंख्य भक्त एवं साधक पहुँचकर अपनी आध्यात्मिकता की पिपासा एवं बुभुक्षा को शान्त कर रहे हैं।

मैं आपके श्रीचरणों में कोटिशः नमन करता हुआ आपके दीर्घायु की कामना करता हूँ।

प्रो. जनार्दन राय,
रीडर एवं अध्यक्ष, भौतिकी विभाग
कमला राय कॉलेज
गोपालगंज (बिहार)



‘अगस्त्य-संहिता’ वैष्णव आगम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें रामोपासना का कर्मकाण्ड आगम की शैली में वर्णित किया गया है। इसमें कुल 32 अध्याय हैं तथा 1500 श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में मुख्यतः भगवान् शिव रामोपासना का रहस्य पार्वती से सुनाते हैं और गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करते हुए भी रामोपासना-सम्बन्धी भक्ति का उपदेश देते हैं, जिससे इस लोक में कामनाओं की पूर्ति होती है तथा मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह ग्रन्थ में द्वितीय प्रवक्ता अगस्त्य मुनि हैं जो नर्मदा नदी के तट पर सुतीक्ष्ण मुनि को रामोपासना की सांगोपांग विधि बतलाते हैं। इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में हनुमान् की आराधना की भी प्राचीन विधि है। हनुमत्कवच का भी एक प्राचीन रूप यहाँ उपलब्ध है, जिसमें ‘आनन्द-रामायण’ के हनुमत्कवच के मन्त्र से पर्याप्त समानता है।

रामोपासना का यह प्राचीनतम कर्मकाण्ड है। इस अगस्त्य-संहिता से हेमाद्रि (1260-1270ई.) ने ‘चतुर्वर्ग-चिन्तामणि’ ग्रन्थ के व्रतकाण्ड में रामनवमी-व्रत के प्रसंग में कम से कम 31 श्लोकों को उद्धृत किया है, जो कमलाकरभट्ट के निर्णयसिन्धु में उद्धृत हैं। धर्मशास्त्र की परम्परा में रामनवमी व्रत के प्रकरण में हेमाद्रि के परवर्ती धर्मशास्त्रियों में माधवाचार्य, म. म. रुद्रधर, म. म. महेश ठाकुर, अनन्तदेव (17वीं शती), म.म. चक्रपाणि (19वीं शती) आदि ने ‘अगस्त्य-संहिता’ को उद्धृत किया है। ‘काव्यप्रकाश’ के चर्चित प्रदीप-टीकाकार म.म. गोविन्द ठाकुर के पंचम पुत्र महामहोपाध्याय तर्कपञ्चानन आगमाचार्य देवनाथ ठाकुर ने 1564 ई0 में अपनी 75 वर्ष की अवस्था में ‘मन्त्रकौमुदी’ नामक आगम के सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। इसमें कुल 37 प्रकरण हैं, जिनमें आगम-कर्मकाण्ड के विविध विषयों का सविस्तर उल्लेख है। इस ग्रन्थ में भी आगमशास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में ‘अगस्त्य-संहिता’ का उल्लेख पाँच स्थलों पर किया गया है। साथ ही आधुनिक काल के विख्यात आगमविद् सरयू प्रसाद द्विवेदी (विक्रम संवत् 1892 से 1963) ने अपने ग्रन्थ ‘आगम-रहस्य’ में भी ‘अगस्त्य-संहिता’ का पर्याप्त स्थलों पर उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से ग्रन्थाङ्क 88 के रूप में प्रकाशित है।

रामनवमीव्रत की एक कथा भी ‘अगस्त्य-संहिता’ से उद्धृत मानी जाती है। इसकी एक पाण्डुलिपि मेरे पास उपलब्ध है। इस पाण्डुलिपि का अन्तिम पृष्ठ इस प्रकार है—

इस ग्रन्थ में मन्दिर निर्माण की विधि के क्रम में चबूतरा पर मन्दिर बनाने का उल्लेख हुआ है, जो गुप्तकाल की शिल्पकला का संकेत करता है। परवर्ती पाल काल में यह चबूतरा अनिवार्य नहीं रहा है, अतः यह सम्भावना बनती है कि अगस्त्य-

संहिता की रचना 8वीं-9वीं शती में हुई होगी। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषद्-साहित्य का नामोल्लेख हुआ है, जिसमें रामतापिनीयोपनिषद् भी है। इस रामतापिनीयोपनिषद् में रामोपासना की जो फलश्रुति बतलायी गयी है वहाँ भवन्ति चात्र श्लोकाः के रूप में ‘अगस्त्य-संहिता’ से फलश्रुति दिये गये हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रामतापिनीयोपनिषद् से पूर्व अगस्त्य-संहिता की रचना हो चुकी थी।

इस चर्चित ग्रन्थ का प्रकाशन महावीर मन्दिर प्रकाशन द्वारा हिन्दी अनुवाद के साथ शीघ्र प्रकाशित किया जा रहा है। इसके प्रकाशन से मध्यकाल की धार्मिक परम्परा के सम्बन्ध में कतिपय भ्रान्तियाँ दूर होगी। कुछ आलोचकों की यह मान्यता है कि रामोपासना और हनुमदुपासना रामानन्दाचार्य के बाद आरम्भ हुई है, उनकी मान्यता के विरुद्ध सुधी पाठक यह जान सकेंगे कि कमसे कम 1260ई. के पूर्व भी यह परम्परा समृद्ध थी। साथ ही, ‘अगस्त्य-संहिता’ के नाम से जो कपट-ग्रन्थ की रचना कर रामानन्दाचार्य, कबीर, रैदास आदि मध्यकालीन सन्तों के काल के विषय में जो भ्रान्ति फैलायी गयी है, इतिहास जगत् को इससे मुक्ति मिलेगी।

महावीर मन्दिर प्रकाशन-माला का नवीनतम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम-स्कन्ध, हिन्दी पद्यानुवाद

अनुवादक : अरविन्द मानव

(डिमाइ सोलहपेजी, पृष्ठ संख्या 400, मूल्य 60.00)

श्रीमद्भागवत महापुराण अपने गम्भीर भाव के कारण एक ओर विद्वानों के बीच प्रख्यात रहा है तो दूसरी ओर श्रीकृष्ण की ललित लीला के वर्णन के कारण सहृदय भक्तों के बीच भी प्रसिद्ध रहा है। इस पुराण का हृदय-स्थल इसका दशम स्कन्ध माना जाता है। इसी दशम स्कन्ध में कृष्ण-लीला का लालित्य-पूर्ण वर्णन है। हिन्दी के चिरपरिचित पद्यानुवादक अरविन्द मानव ने सम्पूर्ण भागवत का पद्यानुवाद किया है, जिसमें तत्काल एक जिल्द में इसके दशम-स्कन्ध का अनुवाद महावीर मन्दिर प्रकाशन से प्रकाशित किया गया है।

इस अनुवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यह कीर्तन के रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। अनुवादक स्वयं कीर्तन की परम्परा से भी जुड़े हुए हैं, अतः इनके अनुवाद में गेय तत्त्व की प्रधानता रही है। किन्तु इसका भावपक्ष भी कहीं संकुचित नहीं है। हिन्दी के सामान्य ज्ञाता को भी इसे समझने कोई असुविधा नहीं होगी।

श्रीमद्भागवत की प्रसिद्धि प्राचीनकाल से रही है। इसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्राचीन टीका श्रीधरस्वामी कृत श्रीधरी टीका है। श्रीधरस्वामी का काल 11वीं शती सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य के भानजे और श्रीवरदाचार्य के शिष्य श्रीसुदर्शन सूरि (14वीं शती) की टीका शुकपक्षीया उपलब्ध है। मध्वाचार्य और विजयध्वज ने भागवत-पुराण की अपनी टीका में चित्सुखाचार्य का भी नाम इसके प्राचीन टीकाकार के रूप में लिया है यद्यपि अभी तक चित्सुखाचार्य की टीका अप्राप्त है। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक जगद्गुरु वल्लभाचार्य ने भी इसके दशम स्कन्ध और अन्य महत्त्वपूर्ण स्थलों पर अपनी टीका लिखी। इस सम्प्रदाय में श्रीगिरिधर की टीका बहुत प्रामाणिक मानी जाती है। निम्बार्क सम्प्रदाय में भी श्रीमद्भागवत पर कई टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें श्रीशुकदेवाचार्य की सिद्धान्त-प्रदीप टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। टीकाओं के अतिरिक्त भागवत से सम्बद्ध भिन्न भिन्न स्थलों पर ग्रन्थ निर्माण की परम्परा भी रही है और कृष्णभक्ति शाखा में आकर ग्रन्थ के रूप में इसकी मान्यता रही है।

संस्कृत के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी प्रसिद्ध सन्तों ने इसका पद्यानुवाद किया है। तेलुगु में महाकवि पोतना, मराठी में एकनाथ, ओड़िया में जगन्नाथ दास, असमिया में शंकरदेव और हिन्दी में हलवाई कवि लालचदास (1587 ई0) ने भी भागवत का पद्यानुवाद किया था। इसके अतिरिक्त भागवत की कथाओं के आधार पर तो अनेक काव्य लिखे गये। इनमें सूरदास के पद साहित्य जगत् में चिरपरिचित हैं। इस प्रकार भागवत-महापुराण कवियों और भक्तों के बीच अत्यन्त प्रसिद्ध और पवित्र ग्रन्थ माना जाता रहा है। भागवत-पुराण में भी दशम स्कन्ध इसका हृदय स्वरूप है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण की अवतार-लीला का सम्पूर्ण वर्णन है। इसी स्कन्ध में प्रसिद्ध रास-पंचाध्यायी है, जो कृष्ण-भक्ति की सांस्कृतिक परम्परा में आधार के रूप में मान्य है।